बिहार, उत्तरप्रदेश, मद्रास तथा मध्यप्रदेश के शिक्षा-विभाग द्वारा स्वीकृत

वर्ष ४

नई धारा

अंक १०

मासिक पत्रिका

प्रधान सम्पादक

श्री रामवृक्ष बेनीपुरी

प्रबंध-सम्पादक

श्री उदयराज सिंह

वार्षिक मूल्य

दस रुपया

एक प्रति

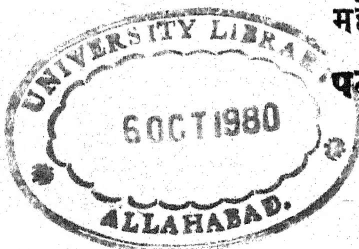
एक रुपया



अशोक प्रेस

महेन्द्रू

पटना



अनुक्रमणिका

वर्ष ४
अंक १०

नई धारा

पौष, २०१० वि०
जनवरी, १९५४ ई०

प्रणय-पत्रिका

श्री बच्चन

मैं प्रकृति-प्राकृत जनों का मान औ' गुनगान करना चाहता हूँ।
तुम उठे ऊँचे यहाँ तक स्वर्ग को ले
गोद में तुमने खेलाया,
किन्तु क्या यह सच नहीं, तुमने धरणि की
भावनाओं को भुलाया ?
और वाणी को गये सौगन्ध देकर
एक हरि का यश बखाने,
सिर धुने, पछताय, अपना भाग्य कोसे
दूसरा यदि नाम जाने;
बोलने को आज व्याकुल हो रही है
भूमि की सोई हुई तह
यदि गिरा गिरती नहीं है आज नीचे
व्योम में खो जायगी वह,
निम्न कुछ ऐसा नहीं जिसको छुए वह
औ' न ऊपर को उठाये,
मैं प्रकृति-प्राकृत जनों का मान औ' गुनगान करना चाहता हूँ।
स्वर्ग सब आनन्द-गुण का धाम उसका
कुछ नहीं है ज्ञान मुझको,
किन्तु जो संघर्ष में लिपटी धरणि
उसपर बड़ा अभिमान मुझको

धन्य तुम हो जो तुम्हें भगवान अपने
साथ में बाँधे हुए थे,
किन्तु सोते, जागते कब छोड़ता है
छोहमय इन्सान मुझको ?
और जो उसके हिये में हलचलें हैं,
कौन उनको जानता है ?
जो नहीं इन्सान को पहचानता
भगवान को पहचानता है ?
मानवों का दु:ख, सुख, बल, भीति जाने,
प्रीति जाने, मुँह न खोले,
मैं किसी युग में किसी अपराध का अब दंड भरना चाहता हूँ।
मैं प्रकृति-प्राकृत जनों का मान औ' गुनगान करना चाहता हूँ।
व्योम क्या देखा कि तुमने भूमि पर से
आँख ही अपनी हटा ली
मृत्तिका के पुत्र की, पर, चाहिये
होनी नहीं ऐसी प्रणाली;
एक फौआरा धरा को छोड़ नभ छू
फिर धरा को लौट आता,
वह कभी आकाश के ऊपर नहीं
आवास अपना है बनाता;
जो न ऊपर चढ़ सके जलधार ऐसी
काम की मेरे नहीं है,
किन्तु ऊपर खो गयी जो सर्वदा को
वंचिता उससे मही है;
ऊर्ध्व करता भूमि की आशा, अधोमुख
व्योम का आशीष करता,
मैं अवनि-अंबर मिलाता आज चढ़-चढ़कर उतरना चाहता हूँ।
मैं प्रकृति-प्राकृत जनों का मान औ' गुनगान करना चाहता हूँ।

कैम्ब्रिज

विशेष लेख

पं० माधवराव सप्रे का व्यक्तित्व और पत्रकारित्व

प्रो० विनयमोहन शर्मा

मध्यप्रदेश की साहित्यिक, राजनीतिक और सामाजिक जाग्रति के प्रथम प्रहर में पं० माधवराव सप्रे का नाम अत्यन्त आदर से लिया जाता है। यद्यपि आपका जन्म मध्यप्रदेश के उत्तर भाग में सागर जिले के एक छोटे-से ग्राम पथरिया में सन् १८७१ में हुआ था, आप अपने अध्यवसाय और प्रतिभा के बल पर समस्त प्रदेश और देश में विख्यात हो गए। आपने बी० ए० उत्तीर्ण कर एल० एल–बी० पढ़ना भी प्रारम्भ किया था, पर देशसेवा की अन्तःप्रेरणा इतनी प्रबल थी कि न तो आपने कभी उस समय में महज सरकारी नौकरी का विचार किया और न वकालत का धन्धा कर धन कमाने का। महाराष्ट्र के चिपलूणकर, लोकमान्य तिलक, आगरकर का आदर्श आपकी आँखों के सामने झूलता रहता था। यदि ये महानुभाव पत्र, लेखन और भाषण के द्वारा अपनी सोई हुई जनता को जगाने का कार्य कर सकते हैं, तो मैं क्यों न इन्हीं का अनुकरण करूँ? क्यों विदेशी शासकों के चरण-चुम्बन करूँ? क्यों कचहरी के दरवाजे जाकर वकालत का व्यवसाय करूँ? तिलक की वाणी 'केसरी' में गरज रही थी। भारतीय तारुण्य उसे सुन-सुन कर फड़क उठता था। एक ओर गुलामी के चमचमाते हुए सिक्के थे, दूसरी ओर आजादी का कारावास और फाँसी का तख्ता दिखानेवाला मार्ग था। सप्रे जी ने दूसरा, कष्ट-सहन का, मार्ग ग्रहण किया।

सबसे पहिले अपने जीवनक्रम को बदलने का आपने संकल्प किया। सादा भोजन, मोटा वस्त्र और कष्ट सहन करने का आपने व्रत लिया। चटकती धूप और बरसते पानी में आप नंगे पैर और बिना छाते के बराबर चलते और प्रसन्नता से जन-सेवा का कार्य करते।

आपने देखा कि जनता में साहित्यिक और राजनीतिक भावनाओं को भरने के लिए सामयिक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन आवश्यक है। अतः आपने छत्तीसगढ़ को अपना कार्यक्षेत्र चुना और वहाँ के प्रमुख नगर रायपुर से सन् १९०३ में "छत्तीसगढ़-मित्र" लेकर जन-सेवा के लिए कटिबद्ध हो गए। "छत्तीसगढ़ मित्र" में केवल सामयिक प्रसंगों की ही चर्चा नहीं होती थी, वरन् उसमें साहित्यिक प्रवृत्तियों का भी दिग्दर्शन होता था; लेख, कविताओं का भी प्रकाशन होता था। हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक उसमें लिखने में अपना गौरव समझते थे। स्वयं आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी भी यदा-कदा उसमें अपनी कृतियाँ को भेजते थे। यह वह काल था, जब मध्यप्रदेश सबमें पिछड़ा हुआ प्रान्त समझा जाता था। सन् १८८८ के पूर्व तो यहाँ कोई सामयिक पत्र निकलता ही नहीं था। सन् १८८८ में केवल तीन पत्रों का प्रान्त में अस्तित्व उल्लेखनीय है! एक है 'विक्टोरिया-सेवक' जो जबलपुर से प्रकाशित होता था, दूसरा "सरस्वती-विलास" जो नरसिंहपुर से और तीसरा 'सी० पी० न्यूज' जो नागपुर से निकलता था।

प्रथम दो पत्र हिन्दी के हैं और अन्तिम पत्र अंग्रेजी का। इस समय देश में हिन्दी की पत्रकारिता विशेष उन्नत नहीं थी। फिर भी युक्तप्रान्त, बंगाल, आदि स्थानों से कुछ प्रतिष्ठित पत्र निकलने लग गये थे। प्रयाग से 'सरस्वती' भी हिन्दी साहित्य-प्रेमियों का ध्यान अपनी ओर खींच रही थी। जब 'छत्तीसगढ़ मित्र' का प्रकाशन इस प्रदेश से हुआ तो प्रान्त में नवीन साहित्यिक और राजनीतिक चेतना का उदय हुआ। पर प्रारम्भिक कालीन पत्रों की जैसी स्थिति होती थी, वही स्थिति इस पत्र की भी हुई, आर्थिक संकटग्रस्त होकर यह पत्र बन्द होगया। पर जिसके हृदय को जन-सेवा की लगन जोर से झकझोर रही हो उसे विघ्न-बाधाओं से निराशा कदापि नहीं होती, प्रत्युत बल ही प्राप्त होता है। आपने नागपुर से १९०६ में 'हिन्दी केसरी' को जन्म देकर लोकमान्य तिलक के विचारों को हिन्दी-भाषा-भाषी जनता में प्रचारित करने का पुण्य उपक्रम किया। आपके साथ इस समय पं० लक्ष्मीधर बाजपेयी, जिनका हाल ही स्वर्गवास होगया है, पं० जगन्नाथप्रसाद और श्री गंगाप्रसाद गुप्त भी सहयोग दे रहे थे। 'हिन्दी केसरी' की गर्जना ने प्रान्त ही नहीं, समस्त हिन्दी-जगत को स्फूर्ति से भर दिया। ब्रिटिश सरकार 'केसरी' की गरज से चौंक उठी। वह उसे हर कीमत

पर बन्द करना चाहती थी। अतः उसके सम्पादक सप्रे जी पर मुकदमा चलाया गया और उन्हें सजा भी हो गई। तीन महीने जेल-यातनाएँ सहने के पश्चात् सप्रे जी किन्हीं कारणों से सशर्त छूट आए। उनके इस कार्य से जनता ने कुछ समय तक उन पर अविश्वास किया और ब्रिटिश सरकार ने तो उन पर कभी भी विश्वास नहीं किया। उसे शक था कि सशर्त छूटना भी आपकी एक कूटनीतिज्ञता थी। पर्दे की आड़ में आप सदैव क्रान्ति का सन्देश सुनाते रहे। प्रदेश का ऐसा कोई साहित्यिक या राजनीतिक कार्य न होता जिसमें आपका अप्रत्यक्ष सहयोग न मिलता हो। यह सत्य है कि जेल से छूटने पर ग्लानिवश आप कुछ काल तक मौन रहे। पर उस मौनावस्था में आपने अपनी आध्यात्मिक साधना बहुत बढ़ा ली। रामदास के 'दासबोध' के आपने कई पारायण किये। 'गीता' का गहन अध्ययन किया और अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि 'कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन'—तेरा कर्म करने का अधिकार है, फल की इच्छा न कर। और प्रान्त की पिछड़ी हुई व्यवस्था को सुधारने के लिए पुनः जबलपुर में 'कर्मवीर' के प्रकाशन में जुट गए। उनका विश्वास था कि यदि मैं शुद्ध अन्तःकरण से जन-सेवा का कार्य करूँगा, तो जनता का निश्चय मुझे सहयोग मिलेगा। अतः घर-घर जाकर चंदा इकट्ठा किया और एक बड़े पैमाने पर इस पत्र की योजना बनाई। खंडवा के राष्ट्रीय कवि माखनलाल जी उन दिनों अस्वास्थ्य के कारण विश्राम ले रहे थे। आपने उन्हें 'कर्मवीर' द्वारा कर्मक्षेत्र में खींचा, साथही ठाकुर लक्ष्मण सिंह चौहान और श्री सिद्धनाथ माधव आगरकर को भी आपने कर्मवीर के सम्पादन में प्रवृत्त किया। लोगों का विश्वास था कि सप्रे जी का 'कर्मवीर' पर अवश्य नाम होगा पर पत्र के प्रथम अंक ने उसे गलत सिद्ध कर दिया। सप्रे जी स्वयं नेता न बनकर दूसरों को नेता बनाना अधिक उचित समझते थे। पं० माखन-लाल चतुर्वेदी को 'कमवीर' का सम्पादक बनाकर आप उसकी बाहरी व्यवस्था देखने लगे। यह सन् १९२०–२१ का काल था। गांधी जी राजनीतिक क्षितिज से ऊपर उठकर जनता को अपनी ओर खींच रहे थे। लोकमान्य का परलोकवास हो गया था। 'कर्मवीर' ने गांधी जी की राजनीति का समर्थन किया। उस समय हिन्दी के दो पत्र बहुत ही लोकप्रिय हो रहे थे। एक था कानपुर का 'प्रताप' और दूसरा जबलपुर का 'कर्मवीर'। मध्यप्रांत की जनता में राजनीतिक भावना को प्रबल करने में 'कर्मवीर' और उसके संचालक सप्रे जी का बहुत भारी हाथ है। दुर्भाग्य की बात है कि जनता में अधिक लोकप्रिय होते हुए भी जबलपुरी 'कर्मवीर' बहुत काल तक क्षेत्र में न रह सका। कई कारणों से उसे बन्द हो जाना पड़ा। पर सप्रे जी ने तो कर्म करने का ही

व्रत ले लिया था। आपने पुनः झोली उठाई और खंडवा में 'कर्मवीर' को पुनः जीवित किया। आप इस बार भी अपने को आगे नहीं लाए। पं० माखनलाल चतुर्वेदी और स्व० सिद्धनाथ माधव आगरकर के हाथों में पत्र को सौंप कर पीछे हट गए।

लोगों का आक्षेप रहा है कि सप्रे जी योजनाओं को बनाते हैं, उन्हें कार्यरूप में परिणत करते हैं लेकिन उनके साथ स्वयं अन्त तक नहीं रहते; दूसरों के हाथों में सौंप देते हैं। उनमें संगठन-व्यवस्था की क्षमता न होने से योजनाएँ असफल हो जाती हैं। पर सप्रे जी तो आध्यात्मिक वृत्ति के पुरुष थे। वे किसी प्रिय से प्रिय वस्तु या संस्था के साथ आसक्त नहीं हो पाते थे। उनका उद्देश्य यही रहता था कि जनता में से ही योग्य व्यक्तियों के हाथों में अलिप्तभाव से संस्थाएँ सौंप देनी चाहिए। वे ही धीरे-धीरे उन्हें चलाने की क्षमता प्राप्त कर लेंगे। हर्ष की बात है कि खंडवा में कर्मवीर-संस्था की जो नींव आपने डाली, वह आज भी जीवित है।

सप्रे जी ने इस प्रदेश में कई व्यक्तियों को सार्वजनिक कार्य के लिए तैयार किया। आपका जीवनक्रम बड़ा व्यवस्थित था! कोई भी पुस्तक या पत्र-पत्रिका भागदौड़ त में आप न पढ़ते। जब पढ़ते जम कर बैठते, पेन्सिल से शंकास्थलों पर चह्न लगाते जाते और यदि कुछ सूझ जाता तो अपने विचार भी लिख देते। लेख लिखते समय भी सावधानी रखते। जो मन में आया, घसीट देना, उनका स्वभाव न था। प्रेस के भूत छाती पर भले ही सवार रहें, पर आप जबतक विषय की रूपरेखा, उसके मुद्दे न टीप लेते, आगे न बढ़ते। लेख लिखने पर उसे दुबारा पढ़े बिना 'कम्पोज' को न देते। तभी आप के लेखों में विचार-गंभीरता और तर्कबद्धता के दर्शन होते हैं। प्रत्येक शब्द को तोलकर लिखना आप खूब जानते थे। भिन्न-भिन्न विषयों की सामग्री कतरन के रूप में भी आप रखते थे। अपने समय के हिन्दी-लेखकों में आपका प्रमुख स्थान रहा है। बाबू श्यामसुन्दर ास, आचार्य द्विवेदी, रामनारायण मिश्र, गर्दे आदि से आपका घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के सभापति-पद को भी आप सुशोभित कर चुके हैं। मराठी भाषा-भाषी होते हुए भी आप राष्ट्रभाषा हिन्दी का ही घर-बाहर प्रयोग करते थे। लेखक के अतिरिक्त आप प्रभावशाली वक्ता भी थे। साथ ही कीर्तनकार, और प्रवचनकार भी आप अच्छे थे। जिस समय "जय जय रघुवीर समर्थ" के घोष के साथ आप कीर्तन या प्रवचन प्रारम्भ करते, श्रोता मंत्रमुग्ध हो जाते। आप जीवन में जिस प्रकार पवित्रता के पोषक थे उसी प्रकार राजनीति में भी उसका समावेश चाहते थे। महात्मा गांधी के समान राजनीति में आप भी धूर्तता को पसन्द

नहीं करते थे। सार्वजनिक जीवन से जो समय शेष रहा, उसमें फुटकर लेखों के अतिरिक्त आपने गीतारहस्य, महाभारत का उपसंहार, दासबोध, आत्मविद्या, एकनाथ-चरित्र, रामदास की जीवनी, आदि पुस्तकों का अनुवाद और प्रणयन किया। आपके द्वारा तिलक के गीतारहस्य का हिन्दी अनुवाद हिन्दी-जगत में बहुत प्रसिद्ध है।

राजनीति और दर्शन के पंडित होने के साथ ही आप में विनम्रता बहुत अधिक थी। रायपुर के 'आनन्दसमाज पुस्तकालय' में नित्य जाने और सामान्य व्यक्तियों के बीच बैठकर उनसे घर-गृहस्थी से लेकर संसार भर की राजनीतिक, साहित्यिक और सामाजिक विषयों की चर्चा कर डालते! आप चलते-फिरते विचार-पत्र थे। देश-विदेश की कोई भी घटना हो, तुरन्त उस पर अपना सन्तुलित मत दे देते। कहते हैं, इसीलिए बहुत से व्यक्ति आपके विचार जानने के लिए 'आनन्दसमाज' में जाया करते थे। स्वावलम्बन की आपमें पराकाष्ठा थी। सन् १९२६ में जब अन्तिम बार बीमार पड़े, तब किसी को भी आपने कष्ट नहीं दिया, अपनी औषधि स्वयं उठकर पी लेते और चुपचाप पड़े रहते। सप्रे जी के असामयिक निधन से प्रान्त की पत्रकारिता क ो सचमुच बड़ी ठेस लगी और सार्वजनिक जीवन में बहुत काल तक अनिश्चितता छाई रही। आप मध्यप्रदेश के प्रथम पत्रकार थे जिन्होंने जनता में राष्ट्रीय भावना को प्रज्वलित किया और गांधीवाद का सन्देश घर-घर पहुँचाया। आपके द्वारा संचालित और सम्पादित पत्र 'छत्तीसगढ़ मित्र', 'हिन्दी केसरी' और 'कर्मवीर' ने हिन्दी-जगत को पत्रकार के पावन कर्त्तव्यों से अवगत किया और कर्त्तव्य पर बलिदान होने की प्रेरणा दी जिसकी प्रतिध्वनि आज भी 'कर्मवीर' के 'उद्देश्य' के रूप में गूँज रही है—

"कर्म है अपना जीवन-प्राण
कर्म में बसते हैं भगवान
कर्म है मातृभूमि का मान
कर्म पर आओ हों बलिदान।"



स्केच

रूपी

श्री राहुल सांकृत्यायन

(१)

वह इसके लिये पैदा नहीं हुई थी। कई बार इस दलदल से निकलने की उसने कोशिश भी की। मधुपुरी सवा सौ वर्ष पुरानी विलासनगरी है, उसके पहले वही लोग यहाँ के घने जंगलों में अपने पशुओं को चराते थे, जो अब भी उसकी सीमा के बाहर अपने छोटे-छोटे गाँवों में रहते हैं। सभी बातों में यह लोग बहुत पिछड़े हुए हैं, लेकिन पिछड़ा होने का मतलब बुरा होना नहीं है। मधुपुरी के बसने के पहले यह अव्वल नम्बर के ईमानदार थे और दूसरों की अपेक्षा अब भी हैं। व्यभिचार इनके यहाँ नहीं था, हाँ, एक पुरानी परिपाटी इनके यहाँ चल रही थी, जो दूसरी जगहों म सहस्राब्दियों पहले उठ चुकी है। अतिथि-सेवा इनमें परम धर्म मानी जाती थी, और अतिथि का सत्कार केवल खान-पान से ही नहीं, बल्कि स्त्री को भी सुलभ करके वह करते थे। लेकिन, जब उन्हें मालूम हुआ, कि ये बाहर से आनेवाले अतिथि ऐसी सेवा का दुरुपयोग करते हैं, तो वह उससे हट गये। गरीबी कहाँ नहीं है, लेकिन इनमें खाते-पीते लोगों की संख्या बहुत कम थी। रूप-रंग में यहाँ की तरुणियाँ ज्यादा अच्छी होती हैं, यह भी इनके लिये घाटे का सौदा हुआ। मधुपुरी ने यहाँ बस कर यहाँ की तरुणियों के जीवन के साथ खेलवाड़ करना शुरू किया।

उसकी माँ जब तरुणी थी, तो मधुपुरी के मेला-उत्सव में अपनी सहेलियों के साथ आती। फिर किसी तरह एक देशी सैनिक के साथ उसका भाग्य जुट गया। दोनों पति-पत्नी के तौर पर रहते। उन्हें एक कन्या पैदा हुई, रूप-रंग में माँ से अधिक सुन्दरी थी। उसने बचपन से ही नागरिक जीवन को देखा, उसका नाम रूपी रक्खा

गया। बाप अपनी कन्या के बारे में कितने ही मनसूबे रखता था। लेकिन, अनेक बापों की तरह उसका भी मनसूबा धरा रह गया, जब कि चार वर्ष की बच्ची को छोड़ कर वह चल बसा। माँ तरुणी थी। परिस्थितियों ने चाहे जो भी उससे कराया हो, लेकिन वह स्वभावतः बुरी नहीं थी। दुनिया उसके लिये सूनी हो जाती है, जब तरुण स्त्री असहाय छोड़ दी जाती है। अपने सैनिक पति की नगरी में भी शायद कोई रखनेवाला उसे मिल जाता, लेकिन उसे विश्वास नहीं हुआ, या उसे स्वच्छन्द पहाड़ी जीवन प्रिय लगा। वह फिर मधुपुरी चली आई और एक दुबले-पतले पहाड़ी चौकीदार से उसका नाता जुट गया। पति दो भाई थे। अभी भी इस अंचल में पांडव-विवाह की प्रथा है, जिसे लोग बाहरवालों के सामने छिपाने की कोशिश करते हैं। वह छोटे पति को देवर कहा करती, और अब बड़े के मर जाने पर उसे जेठ का नाम देती है।

करैला और नीमचढ़ा—गाँव के जीवन को नागरिक जीवन में परिवर्तित करने पर यह कहावत लागू नहीं होती, यह ठीक है; किन्तु पहाड़ी ग्राम के सीधे-सादे जीवन पर नागरिक जीवन जब हावी हो जाता है, तो वह अति को पहुँचा देता है। गाँव में रहते समय चाहे कुछ स्वच्छन्दता बरती जाये, लेकिन वहाँ समाज का कानून सिर पर रहता है, जाति-बिरादरीवालों की राय की पर्वाह करनी पड़ती है। उनका समाज इसे बुरा नहीं मानता, यदि कोई स्त्री अपने एक पुरुष को छोड़कर दूसरे से व्याह कर ले, उसे केवल व्याह का खर्च लौटाना पड़ता है। लेकिन, सिपाही की स्त्री मधुपुरी जैसी विलासपुरी में आकर रहने लगी, तो उसपर वहाँ के आकर्षण और प्रलोभन अपना असर करने लगे। चौकीदार की तनखाह ही कितनी होती है, फिर उसकी तीन-चार और सन्तानें भी हो गईं। सात-सात आठ-आठ आदमी का खर्च चलना मुश्किल था, यद्यपि घर भर मेहनत करने के लिये तैयार था। वह पास के जंगलों से लकड़ियाँ काट कर बेंचते। बंगले में साग-सब्जी उगाने लायक काफी जमीन थी, लेकिन पानी का अभाव था, इसलिये उसका कोई उपयोग नहीं लिया जा सकता था। मधुपुरी में दूध की भी बड़ी माँग है, और सारी कड़ाइयों के रहने पर भी उसमें पानी पड़ना रोका नहीं जा सकता। किन्हीं-किन्हीं चौकीदारों ने गायें पाल रक्खी हैं, कुछ बकरियाँ भी पाल लेते हैं, क्योंकि कसाई बकरों का अच्छा दाम दे देते हैं। लेकिन चौकीदार ने कभी अपने यहाँ कोई जानवर नहीं पाला। शायद नगरी के एक छोर पर जंगल के बीच होने के कारण यहाँ बघेरे का डर बना रहता है, इसलिये उसने पशुपालन पसन्द नहीं किया, अथवा उतना पैसा नहीं जुट सका, कि जानवर खरीदे।

हाँ, नगर के छोर पर तथा बाहर के गाँवों के पास होने से एक सुभीता उसे यह जरूर था, कि गाँव की बनी सस्ती शराब को लाकर दूने दाम पर यहाँ के लोगों को पिलाये। उस समय अभी आसपास के गाँव अंग्रेजी-भारत में नहीं, बल्कि रियासत में थे, इसलिये इस पिछड़े इलाके में शराब बनाने में कोई बाधा नहीं थी। बाधा अब भी नहीं है, क्योंकि यदि कानून कड़ाई करना चाहता है, तो गाँव के गाँव को ले जाकर जेल में बन्द करना पड़ेगा, और गान्धीजी के असहयोग आन्दोलन का नजारा सामने आयेगा, हजारों-हजार कैदियों का भरण-पोषण करना सरकार के लिये सिर-दर्द का कारण होगा। लेकिन, मधुपुरी के एक बंगले में ऐसा करना आसान नहीं था। कभी-कभी पुलिस भी छापा मारती। लेकिन, चौकीदार काफी होशियार था, पुलिस के कतने ही जवानों के लिये उसने सस्ती शराब की सदावर्त खोल रक्खी थी!

संक्षेप में परिवार की जीविका के यही साधन थे।

(२)

'बुभुक्षितः किं न करोति पापं' की बात इस परिवार के ऊपर घटने लगी, जब कि बच्चे सयाने होकर अधिक खाने और कपड़े की माँग करने लगे। अपनी सामाजिक प्रथा के अनुसार बड़ी लड़की को किसी अपने जात-भाई को विवाह कर कुछ रुपया मिल सकता था, लेकिन, वह रुपया बहुत कम होता, जो एक-दो महीने में खतम हो जाता। माँ को नगर की हवा लग चुकी थी! उसके दोनों पति विलासपुरी के निवासी होने के कारण कितनी ही बातों को जानते थे। आखिर व्याह के लिये पैसा लेना भी लड़की को बेंचना था। एक बार के बेंचने में कम और रोज-रोज के बेंचने में ज्यादा पैसा तथा स्थायी आमदनी होने लगे, तो इससे बढ़कर क्या बात हो सकती थी? लड़की चौकीदार या उसके भाई की नहीं थी। यदि होती भी तो कुछ दूसरा ख्याल करते, इसकी कम सम्भावना थी। शायद तरुणाई में पैर रखने पर शराब पीने के लिये कुटिया में पहुँचनेवाले लोगों से लड़की की छेड़-छाड़ होने लगी थी। उसकी माँ मधुबाला थी, शायद उसने भी लड़की के लिये रास्ता साफ किया था। लेकिन, इस बंगले में जस तरह निर्द्वन्द्व शराब के ग्राहक मिल सकते थे, वैसे रूप के ग्राहक नहीं मिल सकते थे। कभी-कभी से कितनी आमदनी होती? माँ ने सलाह ही नहीं दी,' बल्कि वह एक दिन अपनी लड़की को लेकर देश के एक नगर में पहुँच गई। वेश्यावृत्ति आज की नागरिक सभ्यता का एक अभिन्न अंग है, और नगरों के अस्तित्व में आने के साथ ही वह अस्तित्व में आई भी। उसके कई प्रकार हैं। कुछ वेश्यायें नाच-गाने का पेशा भी करती हैं, कुछ को ऐसी किसी कला से प्रयोजन नहीं,

वह खुद केवल अपने शरीर को बेंचती खुले आम बाजार में बैठती हैं। एक तीसरी तरह की वेश्यावृत्ति को भी स्थान है, जिसमें पेशेवर और गैर-पेशेवर दोनों प्रकार की शरीर बेचनेवाली स्त्रियाँ सामूहिक रूप से वेश्यावृत्ति करती हैं, जिसे चकला कहते हैं। यदि माँ चकले से बिल्कुल अपरिचित होती, तो एकाएक लड़की के साथ वहाँ पहुँच जाना उसके लिये सम्भव नहीं था।

उसका नाम अच्छा-सा किसी और ही ख्याल से रक्खा गया था, लेकिन उसके आज के जीवन में उस नाम को दोहराना अच्छा नहीं है। रूप से आजीविका करने के कारण हम उसे रूपाजीवा या रूपी कहते हैं। पहलेपहल चकले का जीवन शुरू करने में उसको बहुत बेचैनी हुई, पर माँ ने पहले ही से इस पथ के लिये तैयारी कराई थी। वह ठंडे पहाड़ की रहनेवाली थी, और देश के नगर चार-पाँच महीने से अधिक उसके अनुकूल नहीं हो सकते थे। पहला जाड़ा किसी तरह उसने चकले में बिताया। चकले की दलाल स्त्री उसके घर का प्रबन्ध करती, ग्राहक पैदा करती और खाने-पीने की चीजों के मुहय्या करने में सहायता करती। यह सब वह मुफ्त थोड़े ही कर सकती थी? इसलिये रूपी को अपने बेंचने की कीमत का कितना ही भाग उसे दे देना पड़ता था। तो भी उसने पहले जाड़ों में अपने लिये कुछ कपड़े और जेवर बनवाये, माँ और भाइयों के लिये भी कुछ खरीदा और सौ रुपया नगद लेकर मधुपुरी लौट आई।

अब गर्मियों और बरसात में मधुपुरी और जाड़ा तथा वसन्त में देश के किसी नगर में वह जाया करती। वह न शिक्षित थी और न शिक्षित समाज में पली थी, इसलिये उच्च आदर्श क्या है इसकी भनक भी उसके कान में नहीं पड़ी थी। लेकिन, अपने व्यवहार से कीचड़ में गिरी होने पर भी वह स्वार्थ में डूबी नहीं थी। वह समझती थी, कि अपने भूखे परिवार की सहायता करना मेरा कर्त्तव्य है। कर्त्तव्य भी उसकी समझ से बाहर का शब्द था, सीधी बात यह थी, कि भूखे पेट चिथड़े लपेटे अपने परिवार को देखकर उसका दिल तिलमिला जाता, और उसका ही उपचार वह इस प्रकार सहायता पहुँचा कर कर रही थी।

(३)

मौसम बीतते वर्ष बीत रहे थे। उसने १४-१५ वर्ष की उमर से इस जीवन को स्वीकार किया था। उस समय से अब उसकी बुद्धि भी ज्यादा विकसित हो चुकी थी। पहले घुटनों चलते बालक की तरह अपनी माँ की अँगुली पकड़ कर चलना ही भर वह जानती थी। अब वह कुछ खुद सोचने लगी थी। उसके परिवार की स्थिति

इस सहायता से सुधर नहीं रही थी। मांस और शराब घर में कुछ और खाई-पी जाती, कुछ दिनों में पैसे खर्च हो जाने तथा ग्राहकों के दुर्लभ हो जाने पर फिर भूखे पेट रहने लगते। चिथड़े कभी थोड़े दिनों के लिये उतर जाते और कबाड़िये की दूकान से कोई सूती या ऊनी कोट आ जाता, लेकिन कुछ ही दिनों बाद वह फिर बिक जाते और कोने में फेंके चिथड़े फिर शरीर पर पड़ जाते। रूपा चीथड़े लपेट कर नहीं चल सकती थी, तब उसे ग्राहक कहाँ से मिलते? उसके शरीर को मांसल रखना भी आवश्यक था, इसलिये परिवार भले ही भूखा रहे, लेकिन उसे भूखा नहीं रक्खा जाता।

वेश्यावृत्ति को सभी धर्मों ने पाप बतलाया है, और इसके लिये नर्क में कठोर यातनाओं का चित्र खींचा है, लेकिन हजारों वर्षों से नर्क की धमकी दी जा रही है, तो भी वेश्यावृत्ति कम होने की जगह बढ़ती ही गई। उधार के दण्ड का यहाँ कोई सवाल नहीं, क्योंकि धीरे-धीरे प्रकृति भी इसे बर्दाश्त करने के लिये तैयार नहीं हुई, और उसने इसी जन्म में आँखों के सामने घोर दण्ड देना शुरू किया, और रतिज रोग (सूज़ाक और गर्मी) ने दुनिया में अपना फैलाव शुरू किया। कौन देश है, जहाँ थैली का बोलबाला हो, और यह दोनों उसके अभिन्न सहचर आ मौजूद न हों! पुरियों और विलासपुरियों में तो इनका और भी जबर्दस्त प्रभाव है। ठंडे पहाड़ों को देखकर अंग्रेजों ने जहाँ जहाँ गोरों की छावनियाँ बनाईं, वहाँ दस-दस मील चारों तरफ लोग इनके मारे त्राहि-त्राहि करने लगे। अगर इनके प्रभाव की मात्रा को जानना हो तो किसी गाँव में कितने निस्सन्तान परिवार हैं, इसे पूछ लीजिये। सूज़ाक आदमी को निस्सन्तान बनाता है। शिमला के पास ऐसे कितने ही गाँव मिलेंगे, जिनके आधे घर निस्सन्तान होकर उजड़ गये। पेनिसिलिन उसकी अमोघ दवा है, लेकिन एक बार अच्छा हो करके भी तो मुक्ति नहीं मिल सकती, यदि समाज में उसका बहुत फैलाव हो और ऐसे स्त्री-पुरुषों का संसर्ग हो। गर्मी या आतशक उससे भी भयंकर है, क्योंकि यह निस्सन्तान तो नहीं करती, लेकिन कोढ़ को पैदा कर देती है। रूपा अपने इस जीवन में इन भयानक रोगों से कैसे बच सकती थी? तीन साल भी बीतने नहीं पाये कि वह आतशक का शिकार हुई। जब बनिये ने हाट लगा दी, तो वह किसी ग्राहक के हाथ में अपने सौदे को बेंचने से इन्कार कैसे कर सकता है? आज से डेढ़ हजार वर्ष पहले शूद्रकने अपने 'मृच्छकटिक' नाटक में लिखा था—

वाप्यां स्नाति विचक्षणो द्विजवरः मूर्खोपि वर्णाधमः,
फुल्लां नाम्यति वायसोपि विहगो या नामिता वर्हिणा।
ब्रह्मक्षत्रविशः तरन्ति च यया नावा तथैवेतरे,
सा वापीव लतेव नौरिव जनं वेश्यासि सर्वं भज॥

इस प्रकार बावड़ी, लता और नौका की तरह वेश्या को किसी के साथ भेदभाव न करके उसकी सेवा करने के लिये उसी काल की तरह आज भी तैयार रहना पड़ता है। रूपी की बीमारी बहुत भयंकर थी, घाव हो गये थे, उसे चलना-फिरना मुश्किल हो गया था। उसे मधुपुरी के अस्पताल में ले गये। दवाई होने लगी, लेकिन सात रुपये रोज वहाँ देना उसके लिये बहुत दिनों तक सम्भव नहीं था। घाव अभी पूरी तरह अच्छा नहीं हुआ था, तभी वह वहाँ से चली आई। सौतेले बाप का गाँव अब भी मौजूद था, वहाँ कुछ खेत भी थे, और एक टूटा-फूटा घर भी। वह वहाँ भेज दी गई। उसे मालूम होने लगा, कि यह जीवन भारी संकट का है। उसे हाल की बीमारी में मृत्यु के मुँह साफ-साफ दिखाई पड़ते थे। शायद वह यह न जानती थी, कि कुष्ट में परिणत होकर उसका जीवन उस मृत्यु से भी कहीं अधिक भयंकर होता। जब तक रोग छिपा रहे, तभी तक ग्राहक आ सकते थे, जब उन्हें साफ मालूम हो, तो कौन अपने गले में अपने हाथ से फाँसी लगाना चाहेगा? यदि उसे अपनी हाट उठा देनी पड़ी, तो फिर क्या वह दाने-दाने के लिये मुहताज नहीं होगी? उसने ऋषिकेश और दूसरी जगहों पर सैकड़ों की तादाद में कोढ़ी स्त्रियों को नहीं देखा था, नहीं तो जानती कि उनमें से अधिकांश रूप की हाट लगाने के कारण ही इस मौत से भी बदतर जिन्दगी को भोगते कड़ी धूप में रास्ते के किनारे बैठी भीख माँग रही हैं।

जो भी हो, खतरे का उसे पता लग गया। बीमारी न होती, तब भी उसे यह ख्याल तो आता ही था, कि रूप आजीवन साथ नहीं रहता, यौवन बादल की छाया की तरह इतना जल्दी निकल जाता है, कि पता नहीं लगता। उसे इस बात की फिकर पड़ी, कि किस तरह इस जीवन से निकला जाये। स्वस्थ हो जाने पर फिर उसे आधा समय देश के शहरों के चकलों में और आधा समय अपनी माँ की कुटिया में उसी जीवन को बिताना पड़ेगा। लेकिन, जिस तरह चकले का रास्ता पा जाना उसके लिये आसान था, उसी तरह उससे निकलने का रास्ता आसान नहीं था। पहले उसके चेहरे पर मुस्कुराहट खेला करती थी, अब वह साफ दिखलावटी मालूम होती थी—वह कभी-कभी आती और वह भी कृत्रिम मालूम होती। रूपी रूपाजीवा थी जरूर, लेकिन वह निर्लज्जा नहीं थी। शास्त्र में 'सलज्जा गणिका नष्टा' कहा गया है। इसका कुछ प्रभाव उसके व्यवसाय पर भी पड़ सकता था। वह सचमुच सुन्दरी थी, जिसमें यौवन ने मिलकर बहुत आकर्षण पैदा कर दिया था।

(४)

अन्धेरे में उसने बहुत हाथ-पैर मारा। जो भी ग्राहक उसके पास आते, सभी

अपना अनन्य प्रेम दिखलाते हुए उसपर अपने को न्योछावर करते। लेकिन, उसने सैकड़ों मुखों से यही बात सुनते-सुनते अब पुरुषों के प्रति विश्वास खो दिया था। बीमारी एक नहीं दो मर्तबे आई और फिर उसने दवाई सुनने से इन्कार कर दी। अब यह यौन-रोग को निराबाध रूप से वितरित कर रही थी, लेकिन तो भी गुड़ के ऊपर टूटनेवाली मक्खियों की तरह पुरुषों की कमी नहीं थी। कुछ उसके स्थायी ग्राहक बन गये थे, और कुछ कभी-कभी आते थे। चकले नगर के अन्धेरे कोने में होते हैं, और वहाँ बहुत भय भी रहता है, इसलिये ग्राहकों को लुक-छिपकर ही पहुँचना पड़ता है। पर, मधुपुरी में रहने के समय उसका दरबार खुला सा चलता। पुलिस बहुत दूर नहीं रहती थी, कानून भी बाधक था, लेकिन जिस तरह उसकी कुटिया में सस्ती शराब बराबर बिकती रहती, उसी तरह सस्ता रूप भी। मधुपुरी में बड़े-बड़े लोग ही अपनी स्त्रियों के साथ आते हैं। छोटे-मोटे काम करनेवाले, चाहे पहाड़ी हों या देशी, सभी अकेले आते हैं। रूपी ने अपनी कीमत बढ़ा-चढ़ा कर नहीं रक्खी थी, इसलिये भी ग्राहकों की कमी नहीं होती थी। पिछले छ-सात सालों में उसे कितनी ही बार कई महीनों के लिये अपने गाँव में जाकर रहना पड़ा, जिसका मतलब यही था, कि बीमारी ने उसे व्यवसाय के लायक नहीं रक्खा था।

रूपी अब २५ से ऊपर की हो गई थी। इधर पाकिस्तान बनने के बाद पंजाब से भागे कितने ही साधारण लोग मधुपुरी में भी रोजगार के पीछे या सैर करने के लिये आते थे। जिनमें से कुछ उसके स्थायी ग्राहक ही नहीं बन गये, बल्कि व्याह का प्रलोभन भी देने लगे। स्त्रियों की जहाँ कमी हो, वहाँ उनका मूल्य बढ़ जाता है। एक तरुण दर्जी उसके यहाँ बराबर आने-जाने लगा। उसने जब पहले व्याह का प्रस्ताव किया, तो रूपी ने इन्कार तो नहीं किया, किन्तु वह विश्वास नहीं कर सकी। अब वह ज्यादा उतावली हो उठी थी। बीमारी और उससे भी ज्यादा जवानी के हाथ से निकलने का भय उसको हमेशा सताया करता था। उस साल की गर्मियों में दर्जी बराबर उसके यहाँ आता रहा और जाड़ों में नीचे के नगर में जाने के लिये तैयार हो गया।

रूपी फिर उन्हीं नगरों में से एक में गई, जिनके चकलों में वह फेरा लगा चुकी थी। दर्जी ने बड़ी खातिर से रक्खा। उसके घरवाले कुछ मामूली सा विरोध करते रहे, लेकिन वह जानते थे, कि अपनी जाति की कन्या को पाने की हमारे पास हैसियत नहीं है, इसलिये उन्होंने भी अपनी मूक सहमति दे दी। रूपी की माँ से जब कोई पूछता, तो वह बड़े तपाक के साथ कहती—ससुराल गई है।

जाड़ों को बिता कर गर्मियों में वह फिर मधुपुरी लौट आई। दर्जी इस साल नहीं आया, क्योंकि उसकी दूकान नीचे अच्छी चलने लगी और मधुपुरी में जरूरत से अधिक दर्जी आकर बैठ गये थे। रूपी को देखने ही से मालूम होता था, कि दर्जी ने उसको बहुत अच्छी तरह से रक्खा था। उसके गालों पर फिर सुर्खी आ गई थी, मांस भी बढ़ गया था, आँखें जो पहले दबी-दबी रहती थीं, वह अब उभड़ी और चमकीली हो गई थीं। दर्जी ने उसे अच्छे कपड़े का सलवार और दुपट्टा बना दिया था। एक सुन्दर ओवरकोट उसके शरीर की शोभा को बढ़ाता था। दर्जी ने सोचा था, ठंडी जगह की स्त्री नीचे की गर्मी को एकाएक बर्दाश्त नहीं कर सकती, इसलिये उसके खर्च-वर्च का इन्तिजाम करके मधुपुरी भेजा था।

लेकिन, मधुपुरी में आकर तो उसे अपने उसी परिवार में रहना था, उसी मधुशाला में उठना-बैठना था, जिसमें उसकी माँ मधुबाला बनकर रहती थी। शराब और रूप दोनों के ग्राहक वहाँ बराबर आया करते थे। माँ कैसे पसन्द करती, कि हाथ में आई लक्ष्मी को लौटाया जाये? रूपी के पहले के कितने ही घनिष्ट ग्राहक उसके रूप के नये निखार को देखकर कैसे चुप बैठ सकते थे? वह सोचने लगी, मैंने यहाँ आकर भूल की। लेकिन, जब उसे यह बात साफ-साफ समझ में आने लगी, तब तक नीचे लू चलने लगी थी—अखबारों को पढ़ सकती, तो देखती, कि वहाँ ११२ और ११५ डिग्री की गर्मी है। ऐसी लू में वहाँ जाकर कोई पहाड़ी बच नहीं सकता, यह वह जानती थी, तो भी उसने अपने दर्जी पति को चिट्ठियाँ लिखवाईं, कि आकर ले जाओ। पर वह इस तरह का खतरा मोल लेने के लिये तैयार नहीं था। रूपी मुश्किल से एक महीने तक अपने को बचा पाई। इसमें भी किसी-न-किसी बहाने से कई बार उसको अपनी माँ और सौतेले बाप की झिड़कियाँ खानी पड़ीं। सब ने मिलकर फिर उसी खड्ड में उसे ढकेला।

गर्मियाँ बीतीं, वर्षा शुरू हो गई। ढाई-तीन महीने आये हो गये थे। पैर भारी हैं; यह देर से मालूम हुआ। उसकी और उससे भी अधिक उसकी माँ को इच्छा थी, कि दर्जी जल्दी आकर ले जाये। दर्जी की चिट्ठियाँ बराबर आती थीं, और वह अपने प्रेम को प्रदर्शित करने के लिये कभी-कभी सिनेमा के गाने की कुछ पाँतियाँ भी उद्धृत कर देता। अचानक एक बार उसने अपनी चिट्ठी में लिखा: मेरे माँ-बाप तुम्हें लाना पसन्द नहीं करते। रूपी के पैर से धरती निकल गई। अब क्या किया जाये? माँ के सामने वह हमेशा दबती रहती थी, लेकिन अबकी उसने उसे बहुत फटकारा—मैं

दलदल से निकल चुकी थी, तुमने मुझे अपने लोभ के लिये फिर गड्ढे में ढकेला। दर्जी की इन्कारसूचक चिट्ठी मिली, उसने जब उसे पढ़वा कर सुना, तो वह अपने को संभाल न सकी और फूट-फूट कर रोने लगी।

उसकी माँ की मधुशाला यद्यपि कानून की दृष्टि से एक गुप्त चीज थी, लेकिन अन्तर्जगत् के लोग उसे अच्छी तरह जानते थे। रूपी के 'ससुराल' से लौटकर आने की खबर जहाँ पुराने भँवरों को लगी, वहाँ इनके मँडराने और फूल सूँघने की गन्ध कुछ ऐसे आदमियों को भी लग गई, जो दर्जी के परिचित थे। उन्होंने चिट्ठी में सीर बात उसके पास लिख दी। यहाँ बैठी-बैठी झूठी-सच्ची सफाई पेश करना भी रूपी के लिये आसान नहीं था। फिर उस सफाई को वहाँ मानता ही कौन? तो भी उसने गिड़गिड़ाकर एक-पर-एक चिट्ठियाँ लिखीं। दर्जी का दिल नरम हुआ। शायद वह यह भी समझता था, कि यदि यह स्त्री हाथ से गई, तो हमेशा के लिये मैं आनव्याहा ही रह जाऊँगा। एक दिन जब वह माँ की मधुशाला में पहुँच गया, तब भीतर से शंकित होने पर भी रूपी के मन में बड़ा संतोष हुआ। उसने किसी बहाने जल्दी चलने के लिये कहा।

(५)

माँ ने लड़की को दर्जी के साथ भेज दिया, और बिना पूछे ही आसपास के लोगों को कहना शुरू किया—मेरी बेटी ससुराल चली गई। उसने उसके पास चिट्ठी भी लिखी, लेकिन महीनों कोई जवाब नहीं आया। एक दिन देखा, कि रूपी फिर उसके घर में आ गई है। दर्जी उसे वहाँ छोड़ जरा भी न ठहरे चला गया। रूपी के चेहरे पर खून नहीं था। मालूम होता था, कई महीनों से बुखार ने पकड़ रक्खा है, आँखें भीतर धस गई थीं। दर्जी भलेमानुस था, इसे वह मानने के लिये तैयार थी। उसने जो भी जेवर-कपड़े उसके लिये बनवा दिये थे, उनमें से किसी को नहीं लौटाया। वस्तुतः वह माँ-बाप से लड़-झगड़ कर उसे अपने पास रखने के लिये तैयार था। लेकिन, जल्दी ही मालूम हो गया, कि उसके तो पाँच महीने का गर्भ है। पाँच महीने क्या उससे भी पहले से रूपी उसके पास नहीं थी। वह कैसे मान लेता, कि यह गर्भ मेरा है। इतनी कड़वी घूँट पीने के लिये उसका समाज तैयार नहीं हो सकता था। उसके समाज में किसी भी कुल से कन्या को ले लेना वैध था, लेकिन ऐसी अवस्था में नहीं। तो भी उस ईमानदार दर्जी ने उसका अनिष्ट नहीं करना चाहा। किसी डाक्टर से मिलकर या किसी दूसरी तरह गर्भ गिरवा दिया। दो-तीन महीने का होता, तो शायद स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ता, किन्तु गर्भ आधी अवधि पूरा कर चुका था, इसलिये जब रूपी मधुपुरी लौटी, तब भी रक्तस्राव हो रहा था।

उसके जीवन में एक बार उषा की लाली छिटकी, उसने अपने भावी जीवन के कितने ही सपने देखे। मालूम होता था, वह जमीन पर नहीं, आकाश में किसी देव-विमान में विचरण कर रही है। यह जीवन उसने वासना के वश में होकर स्वीकार नहीं किया, बल्कि दरिद्रता ने उसे वहाँ ढकेल दिया था। कई आशाओं और निराशाओं के बीच में होकर आखिर उसे एक बार रास्ता मिला था, लेकिन वह फिर अब उसी खड्ड में।

शरीर की ऐसी अवस्था में मधपुरी में रहना बेकार था, इसलिये उसे गाँव में भेज दिया गया। अबके सारे सीज़न—गर्मियों और बरसात दोनों—को उसने गाँव में बिताया। मधुशाला की ओर जो दाढ़ी और बेदाढ़ीवाले, टोप और बेटोपवाले दर्जनों की संख्या में हर रोज आया करते, अब उनकी संख्या बहुत कम थी। शाम के वक्त कोई-कोई शराब पीने के लिये आते। मालूम होता था, रास्ते पर फिर घास जम आयेगी, जब चलनेवाले पैरों की संख्या कम हो, तो वैसा होना ही था।

अक्तूबर के महीने में फिर रास्ता चालू हो गया। तरह-तरह की मूर्तियाँ उधर आती-जाती देखी जाने लगीं। बिना कहे भी मालूम हो गया, कि रूपी आ गई है।

अब फिर उसका वही जीवन आरम्भ हो गया है। दर्जी के बनवाये हुए ओवरकोट, सलवार तथा दुपट्टे को पहन कर कभी-कभी वह बाहर भी जाती देखी जाती है। जो लोग दिल से चाहते थे, कि इस जीवन से उसका निस्तार हो और जिन्होंने कुछ दिनों उसके परिवर्तित जीवन को देखकर बहुत खुशी मनाई, उनकी ओर अब देखने की भी उसकी हिम्मत नहीं होती, वह अपने आप शर्म से धरती में गड़ जाती है। उसे चलते देखकर मालूम होता है, वह कोई मनुष्य नहीं, बल्कि यन्त्र चल रहा है। उसके मन में अब क्या आशा हो सकती है? जीवन में एक ही बार समाज की अनेक बाधाओं को तोड़कर उसको निकलने का मौका मिला था, और कितने सालों के प्रयत्न के बाद। अब क्या फिर कोई उस दर्जी जैसा उसे मिलेगा!

मधुपुरी के लिये यह अकेली रूपी नहीं है, यहाँ और भी कितनी ही अपने जीवन को बर्बाद कर चुकी हैं। जब हम मधुपुरी के मधुर सौन्दर्य की प्रशंसा करते नहीं थकते, उस समय हमें नहीं ख्याल आता, कि इस सौन्दर्य को पैदा करने के लिये कितने नर्क-कुण्ड में पड़ने के लिये मजबूर हुए।

नारी 'भरम' रही है !

श्री विश्वमोहन कुमार सिंह

जैसे साहित्य विचार-सौन्दर्य का सार है; संस्कृति पारस्परिक व्यवहार-सौन्दर्य का, संगीत ध्वनि-सौंदर्य का तथा चित्रकला रंग और दृष्टि-सौंदर्य का सार है वैसे ही पुरुष या नारी सृष्टि-सौंदर्य का अंतिम सत्य है। पुरुष और नारी को दो सर्वथा भिन्न जीव मान लेना बड़ा कठिन है। वस्तुतः वे एक ही जाति के हैं और उन्हें साथ-साथ काम करने के लिए ही प्रकृति ने गढ़ा है जिससे उसके जीवों की चिरन्तनता बनी रहे। इसके अतिरिक्त कोई भी दूसरा उपाय ही नहीं जिससे जीव अपना विकास कर सके और अनन्त काल तक जीवित रहे। चाहे हम कितना ही प्रयत्न क्यों न करें कि पुरुष और नारी के व्यक्तित्वों का विकास सर्वथा समान तथा समानान्तर दिशा में हो, पर प्रकृति और जीव के हित के लिए पुरुष और नारी को परस्पर घुल-मिल जाना ही होगा। हम अपने को धोका दे सकते हैं, अपने चारों ओर आडम्बर का जाल फैला सकते हैं, पर प्रकृति को धोका नहीं दे सकते। वह पुरुष और नारी से कहीं अधिक शक्तिशाली है। उसके नियम अटल और अजेय हैं।

राजनैतिक, नैतिक या सामाजिक क्षेत्र में पुरुष और नारी की समानता का प्रश्न, उनके प्राकृतिक सम्बन्ध के विषय में अज्ञान का ही परिणाम है। यदि इस सम्बन्ध को हम स्पष्ट रूप से समझ लें तो एक ही मानव-जीवन के इन दो तत्वों के बीच विभेद तथा विरोध का कहीं स्थान ही नहीं रह जाय। शरीर-विज्ञान तथा जीव-विज्ञान के दृष्टि-कोण से इन दोनों जीवों का अध्ययन करने पर यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि प्रकृति ने इन दोनों को एक साथ रक्खा है तथा उन्हें परस्पर एक दूसरे के लिए ही बनाया है। आकृति के लिहाज से पुरुष वही नहीं है जो नारी है और न नारी वही है जो पुरुष। मानसिक प्रक्रिया के लिहाज से नारी वही नहीं है जो पुरुष और न पुरुष वही है जो नारी। वैसे तो निश्चय ही कुछ आधारभूत चीजें ऐसी हैं जो प्रत्येक दूध पिलानेवाले जीव में मिलेंगी। फिर भी शारीरिक आकृति तथा मानसिक प्रक्रिया में इतनी अधिक भिन्नता होते हुए भी पुरुष और नारी में इतना ऐक्य है कि इसकी कल्पना

भी कठिन हो जाती है कि इनका निर्माण समान्तर क्षेत्रों में काम करने के लिए हुआ है। आदिम युग में झंझा, तूफान, तुषार-पात, वृष्टि तथा लू के रूप में प्रकृति द्वारा किए गए अत्याचार से मनुष्य को संघर्ष करना पड़ा, वन्य पशुओं के आक्रमण से भी उसे लड़ना पड़ा; पर अपने जीवन की सुरक्षा के लिए पुरुष को नारी से कभी भी नहीं लड़ना पड़ा। इसके विपरीत पुरुष को नारी के समक्ष अपना पूर्ण आत्मसमर्पण करना पड़ा और उसे नारी से अपना तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करना पड़ा जिससे जीवन संघर्ष में वे दोनों एक साथ प्रवृत्त होकर जीवन का विकास कर सकें। उनके बीच कभी कोई राजनीतिक या सामाजिक सन्धि नहीं हुई। यह तो मानव की सहज प्रवृत्ति थी—उसकी आदि मनोभावना और चेतनता ही थीं जिन्होंने एक शाश्वत, सुसम्बद्ध तथा अविच्छिन्न जीवन व्यतीत करने के लिए पुरुष को नारी की ओर तथा नारी को पुरुष की ओर अनादि काल से ही आकृष्ट कर दिया। आज का यह नारा कि नारी शोषित तथा दलित वर्ग है—वह पुरुष से जीवन के हर क्षेत्र में समानता के लिए संघर्ष कर रही है—तथा उसे उन अस्त्रों की खोज करनी चाहिए जिनसे वह आगे बढ़ गई पुरुष जाति को परास्त कर सके—सर्वथा अप्राकृतिक तथा भ्रमोत्पादक है।

प्रकृति में पुरुष और नारी का जो स्थान है उसे दृष्टि में रखते हुए समाज में पुरुष और नारी का स्थान निर्धारित करने की चेष्टा विचारक युगों से करते आ रहे हैं। प्रकृति ने न नारी को अबला बनाया है न पुरुष को सबल! दोनों ही सबल भी हैं और निर्बल भी। पुरुष शारीरिक बल में सशक्त है, नारी भावुकता में। पुरुष उछलता-कूदता है, उसका स्वर भारी है, अपनी सबल उँगलियों से किसी गुत्थी को तोड़-ताड़ कर भी सुलझा लेता है, दाढ़ी-मूँछों के कारण उसका चेहरा अपेक्षाकृत कम सुन्दर और चिकना लगता है पर वह बड़ी ही मर्मभेदी दृष्टि से देखता है और साधारणतः उसकी प्रवृत्ति ही आक्रामक तथा क्रियाशील है। दूसरी ओर नारी इन सब गुणों में पुरुष के वपरीत पड़ती है। बलखाती हुई पतली कमर की नारी मन्द गति से चलती है और उसके पद-निक्षेप में भी एक सुमधुर संगीत निहित रहता है; उसकी बोली सुरीली और मीठी होती है; उसकी कोमल, पतली और लम्बी उँगलियाँ बड़े ही कलात्मक ढंग से चलती हुई किसी उच्च कोटि की कला का निर्माण कर देती हैं; उसके गुलाबी गाल और मद-भरे होठ न जाने कितने आकर्षक हैं और उसकी बाँकी चितवन हृदय में शीतलता पैदा करती है। जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण ही करुणा का है जहाँ सब का स्वागत है और वह सबको आत्म-सात कर लेती है। उसे दूसरों

पर पूर्ण विजय प्राप्त करने के लिए अपना सर्वस्व समर्पण कर देने पर पूर्ण विश्वास है। इसलिए हम नहीं कह सकते कि पुरुष और नारी में कौन अधिक सबल है। दोनों ही समान भाव से सबल भी हैं और निर्बल भी। शक्ति के प्रदर्शन में पुरुष बढ़कर है, भावुकता तथा करुणा में नारी। युद्ध के महानतम योद्धा और बड़े-बड़े सन्तों ने भी जहाँ नारी के समक्ष अपनी हार स्वीकार की है; वहाँ सुन्दरतम नारी ने भी एक घोर कर्मठ साधारण पुरुष के समक्ष अपना सर्वस्व समर्पित किया है ! इतिहास इस बात का साक्षी है कि पुरुष और नारी दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र में समान भाव से सशक्त हैं और अपने प्राकृतिक कल्याण के लिए वे एक दूसरे के पूरक बनते हैं तथा एक दूसरे को प्रभावित भी करते रहते हैं। कितना भी सशक्त पुरुष क्यों न हो वह नारी के कोमल बाहु-पाश में बँधने के लिए सदा उत्कंठित रहता है। नारी कितनी भी कोमलांगी तथा सुन्दर क्यों न हो वह पुरुष द्वारा अपनी सुरक्षा के लिए बेचैन रहती है। यह प्रकृति का नियम है—पुरुष और नारी मिल कर ही पूर्ण हैं।

पुरुष और नारी का परस्पर एक दूसरे के प्रति स्वाभाविक आकर्षण ही 'प्रेम' है। यह एक ऐसा विषय है जिसने विश्व-साहित्य के एक बहुत बड़े भाग पर अपना आधिपत्य जमा रक्खा है। साहित्य से 'प्रेम' निकाल दीजिए, उसमें कुछ नहीं रह जाएगा। भूख के बाद यही हमारी सबसे बड़ी मनोभावना है जिसे कोई भी विचारक अपनी आँखों से ओझल नहीं कर सकता। इस 'प्रेम' को लोगों ने अनेक रूपों में देखा है तथा अनेक प्रकार से उसे अभिव्यक्त किया है। उसे ईश्वर तक की संज्ञा दी गई है तथा मानव-मस्तिष्क जो सबसे बड़ा आध्यात्मिक प्रतीक ढूँढ़ सकता था वह प्रतीक भी उसे दिया गया है। प्रेम को पाशविक तथा रक्त-रंजित भी कहा गया है ! इन दोनों छोरों के बीच भी न जाने प्रेम के कितने रूप हैं जो अपने-अपने क्षेत्र में काफी प्रभाव-पूर्ण हैं। सम्पूर्ण वैदिक तथा हिन्दू-काल में, विचारों की विविधता के बावजूद, नारी अर्धांगिनी ही मानी गई है जिसे 'शिव-पार्वती' के प्रतीक से समझाया गया है। पत्नी के पार्श्व में बैठे बिना कोई भी यज्ञ पूर्ण नहीं हो पाता था। शासन के लिए भी राजा को रानी के साथ ही सिंहासनारूढ़ होना पड़ता था। उस समय विषमता का प्रश्न कहाँ था ? भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही कर्मों के लिए पुरुष और नारी मिलकर ही सम्पूर्ण हो पाते थे। यूरोप के प्राचीनतम युगों ने 'सौन्दर्य और पशु' की पौराणिक कथाओं के द्वारा नारी की सत्ता का प्रतिनिधित्व किया। वीरता-पूर्ण भावुकता के लिए प्रसिद्ध मध्य-युगों ने नारी के ऊपर पुरुष की तथा पुरुष के ऊपर नारी की सत्ता दो विभिन्न प्रकारों से मानी; फिर भी उन दोनों में बहुत अधिक

साम्य भी उन्होंने माना था। पुरुष और नारी में प्रकृति द्वारा किए गए इस विभेद का अर्थ केवल क्रियाशीलता तथा भावुकता का सुमधुर संयोग ही है। एक के प्रति दूसरे की इस आसक्ति का अन्त सुखान्त और दुखान्त दोनों ही हो सकता है—वह हमें हँसा भी सकता है, रुला भी सकता है; फिर भी यह मधुर है, वरदान है और उदात्त भी!

वैज्ञानिक युग में आने पर हम पाते हैं कि विज्ञान या विश्लेषण-दर्शन ने प्रेम के टुकड़े-टुकड़े कर दिये हैं और यह जानने की चेष्टा की है कि प्रेम क्या है और कैसे चलता है? इस विश्लेषण में यद्यपि विज्ञान ने प्रेम के काव्यात्मक तथा भावुक रूप को खो दिया है फिर भी नश्चय ही उसने रहस्य तथा शक्ति के रूप में बहुत कुछ प्राप्त कर लिया। इस दर्शन ने प्रेम की क्रियाशीलता की व्याख्या की, जिसे अभीतक हमने या तो जाना ही नहीं था या जाना भी था तो गलत! फ्रायड ने हमारी वासना की मनोवृत्ति को हमारे जीवन की क्रियाशीलता में सबसे बड़ा स्थान दिया है। शॉपेनहावर ने कहा कि इस वासना की भावना में मृत्यु के बाद तक जीने की इच्छा निहित है, जिसे प्रकृति ने पुरुष और नारी दोनों को ही जीव की शाश्वतता अक्षुण्ण रखने के लिए दिया है। इस दार्शनिक के अनुसार पुरुष और नारी वस्तुतः एक दूसरे के पूरक हैं और यही कारण है कि एक दूसरे को इतना चाहता है। वह पूछता है कि प्रेमी क्यों अपनी प्रेमिका के आगे किसी दूसरे को नहीं चाहता और उसके लिए सब कुछ न्योछावर करने को तैयार रहता है? क्योंकि यह उसकी अमर आत्मा है जो प्रेमिका को चाहती है। उसका नश्वर शरीर ही संसार की अन्य वस्तुएँ चाहता है। वैज्ञानिक समीक्षा के बाद शॉपेनहावर इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि प्रेम भविष्य में पैदा होनेवाले शिशु का स्पष्ट स्वर ही है। पुरुष और नारी के भाग्य बदले नहीं जा सकते। बर्नर्ड शॉ की भी यही धारणा है। उसके अनुसार अपनी चिरन्तनता बनाए रखने के लिए प्रकृति की जो योजना है वही पुरुष और नारी का प्रेम है। शॉपेनहावर तथा शॉ में अन्तर केवल इतना ही है कि पहले की मान्यता यह है कि पुरुष और नारी दोनों ही प्रकृति की प्रेरणा से इस काम में संलग्न होते हैं; पर दूसरे के अनुसार नारी ही पुरुष के लिए बेचैन रहती है। यही शैवों का भी सिद्धान्त है। वास्तविकता यह है कि पुरुष और नारी दोनों ही एक दूसरे को ढूँढ़ते रहते हैं। इससे सम्बद्ध और भी अनेक प्रश्न हैं जिनका उत्तर इसी सिद्धान्त के भीतर निहित है। ऐसा क्यों है कि पुरुष किसी नारी-विशेष को प्यार करता है, दूसरे को नहीं; और नारी किसी पुरुष-विशेष को प्यार करती है, दूसरे को नहीं? ऐसा क्यों है कि पुरुष एक से सन्तुष्ट

नहीं रहता—वह अनेक को प्यार करना चाहता है; और नारी साधारणतः एक को ही प्यार करती है, अनेक का नहीं? ऐसा क्यों है कि नारी में सहानुभूति, कोमलता, धैर्य तथा सहनशीलता आदि दैवी गुण बहुत अधिक मात्रा में पाए जाते हैं? उत्तर यही है कि काम-वासना की पूर्ति के बाद पुरुष स्वतंत्र हो जाता है। भावी पीढ़ी की सृष्टि का बीज वह बो देता है तथा एक वर्ष में वह सैकड़ों पीढ़ियों की उत्पत्ति का बीज बो सकने में समर्थ है। परन्तु केवल सृजन ही सब कुछ नहीं; पालन-पोषण भी अत्यावश्यक है। भावी शिशु का पालन कौन करेगा? प्रकृति ने नारी की सृष्टि इसी महान उद्देश्य से की है। नारी को उसने वह वरदान दिया है कि जिससे उसे दूध पैदा हो सके। उसे मातृत्व की भावना से अनुरंजित कर रक्खा है जिससे वह अपनी जान देकर भी अपनी संतान का पालन-पोषण बड़ी ही सावधानी से कर पाती है। पुरुष और नारी दूसरे के पूरक हैं। परस्पर की स्पर्धा के लिए उनका निर्माण नहीं हुआ है बल्कि परस्पर की पूर्णता के लिए।

पुरुष और नारी के इस प्राकृतिक सम्बन्ध को यदि हम एक बार समझ लें तो हमारी सारा समस्याएँ स्वयं ही हल हो जायँ। चाहे आप जो भी करें, आपके विचार चाहे जो कुछ भी हों, नारी को अपने गर्भ में बालक को ढोना ही होगा और उसका पालन-पोषण करना ही होगा। यही नारी की पूर्णता है, यही उसकी सार्थकता है। इस शिशु-पालन का अर्थ है गृह-निर्माण। प्रकृति के साम्राज्य में गृह का वही महत्व है जो जगत का। गृह का विनाश सारे जगत का विनाश है। गत जनवरी में दिल्ली में गाँधीवाद के दृष्टिकोण तथा उसकी प्रक्रिया पर जो व्याख्यान-माला आयोजित हुई थी उसमें प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान मैसिगनन् ने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि मजदूर-वर्ग के सामाजिकरण का अर्थ है नारी का सामाजिकरण। क्या नारी सामाजिकरण की वस्तु है? नारी कारखाने में गई नहीं कि खोई। परिवार उजड़ जाएँगे। नारी को कारखाने में भेज देने के बाद वास्तविक पारिवारिक जीवन का सुख हमारे लिए असम्भव है। यदि आप नारी को कारखाने में रखते हैं तो आप जगत का विनाश कर रहे हैं।

इसलिए हमें यह बात सदा याद रखनी होगी कि जिस प्रकार पुरुष के लिए कुछ काम प्रकृति द्वारा अलग कर दिए गए हैं, उसी प्रकार नारी के लिए भी कुछ काम अलग कर दिए गए हैं। विभाजन के सिद्धान्त का आज के परिवर्तनशील जीवन की गुत्थियों के साथ समन्वय स्थापित करते हुए, उसे कैसे व्यवहार में लाया जाय, यही

हमारे सामने आज कठिन प्रश्न है। सारी कठिनाई इसीलिए आज पैदा हो गई है कि पुरुष ने अपना आदर्श छोड़ दिया है—वह वास्तविकता को भूल गया है। वह अपना एक अलग, किन्तु गलत राग अलाप रहा है और वह उसीमें प्रसन्न है। नारी भी दुश्शिक्षा तथा कृत्रिमता की चकाचौंध में आकर पथ-भ्रष्ट हो गई है। यही कारण है कि वह पुरुष के साथ समानता की आवाज उठा रही है और पुरुष की बराबरी करने के लिए तैयार हो रही है। और यही कारण है कि झूठे पुरुषत्व की भावना से भरा हुआ पुरुष नारी के समक्ष सिर झुका देता है। निश्चय ही नारी का दमन और शोषण नहीं होना चाहिए पर उसे भ्रम में भी नहीं रखना चाहिए। पुरुष के अर्ध-भाग के रूप में नारी का स्थान अचल है। इसे अस्वीकार करने का अर्थ जीवन के सौन्दर्य के सत्य को ही अस्वीकार करना है।

आज के हमारे समाज में जहाँ ईर्ष्या, अज्ञान, दर्प और छल का इतना बोलबाला हो गया है, जहाँ स्पर्धा ही जीवन की रीढ़ बन बैठी है, जब आर्थिक संकट सबसे अधिक भयंकर हो गया है, जहाँ संस्कृति का अर्थ बाह्याडम्बर हो गया है, नारी को निश्चय ही कला तथा विज्ञान में, पुरुष को बराबरी करनी होगी, उसे पुरुष का ही पेशा अपनाना पड़ेगा; पर ध्यान रहे, यह सब कुछ तभी तक, जबतक युग की असाधारणता उसकी माँग करती है—इसे नारी-जीवन का मूल-तत्व नहीं बनाया जा सकता। जिस प्रकार असाधारण घटनाओं के समय बाहर भागने के असाधारण रास्ते होते हैं उसी प्रकार केवल असाधारण परिस्थितियों की माँग पर ही नारी पुरुष के समान धनोपार्जन तथा युग-संघर्ष की तैयारी करे। यह तैयारी नारी-जाति को इस पथ-भ्रष्ट युग में पतन के गर्त में गिरने से तो बचाएगी ही, वह उसका दमन भी नहीं होने देगी तथा नारी प्रतिष्ठा के साथ अपने वास्तविक धर्म को भी पूरा कर सकेगी। पर समाज की विषम-योजना के कारण नारी के मन में जो भय पैदा हो गया है, बिना सोचे-समझे आज जो नारे लग रहे हैं, तथा हमारी दुश्शिक्षा ने नारी की आँख में जो चकाचौंध पैदा कर दी है, उसने नारी को पथ-भ्रष्ट तो किया ही है, उसके दिल और दिमाग में एक अजीब गलत लालसा भी भर दी है। उसे दूर हो जाना चाहिए। नारी पुरुष के साथ स्पर्धा के लिए नहीं निर्मित हुई है बल्कि उसकी पूर्णता के लिए बनी है। पुरुष और नारी मिलकर ही सम्पूर्ण हैं।

मधुमयी

श्री राजेन्द्र प्रसाद सिंह

(सजला)

तुमने किसकी ओर उठाईं अँखियाँ काजलवाली, री !
विरह-विनिन्दित ग्रीष्म-गगन का पट हटने को डोला,
एक नये अम्बर ने अपना परिसर-मंडल खोला,
तप से जिनके नयन ज्वलित हो किरण-कोष बन जागे,
उन प्यासों ने ही देखा यह अन्तर अपने आगे,—
मधुऋतु की झुलसी पंखुरियाँ हरियाली बन आईं,
डूबे ऊदे-ऊदे बादल छाई बदली काली, री !
तुमने किसकी ओर उठाईं अँखियाँ काजलवाली, री !
किस बहुरंगे मर्म-विपिन में छायावास तुम्हारा ?
अपनी भाव-परी में पाया वह आभास तुम्हारा,—
बदल गया जो आज स्वयं ही सजल घटा की छाव में,
एक सरसता आई, छाई, सुख-दुख में, शशि-रवि में !
चाह-भरे बेबस जीवन के दाह-भरे पथ भींगे,
नभ के अन्तर का मधु पीकर धरती भी मतवाली, री !
तुमने किसकी ओर उठाईं अँखियाँ काजलवाली, री !
मन्द्रमयी अविषम पग-ध्वनि से रन्ध्र जगत के गूँजे,
विषम हृदय ने प्रतिध्वनियों से अलख चरण चल पूजे।
बाँध लिया चितवन-चपला से तुमने दो क्षितिजों को,
साध लिया रिमझिम-नर्त्तन में बिखरे लाख सुरों को।
सबकी साँसें मिलकर जिसमें एक अधर से गूँजें,—
तुमने पहलीबार बजादी वंशी वह सुधिवाली, री !
तुमने किसकी ओर उठाईं अँखियाँ काजलवाली, री !

(उज्ज्वला)

श्रीमयी शरदऋतु के नभ में नीली मुसकान तुम्हारी.
चाँदनी बनी छलकी नीरव वंशी की तान तुम्हारी !

काले मेघों को दो बाँहों में बाँध-बाँध कर हारा मन,
सतरंग साँझ की रंगीनी में उलझ गया बेचारा मन!
हाँ, मुँदे कमल की सुरभि लिए आये झोंके,
पर, बेसुध सारे अंग, कौन उनको रोके!
उड़ चले कोक, पर शोक नहीं उठ छाया,
हर ओर कुमुदिनी का सौरभ लहराया।

अनगिने तारकों से झलमिल आई बारात तुम्हारी,
ले रजत-कलश भरपूर, सकुच शरमायी रात तुम्हारी!
दुख के बादल-दल छिपे खो गये, अलक-जाल ज्यों घूँघट में,
सुख के बादल खिल उठे, खिले ज्यों शुभ्र फूल अंचल-पट में।
निर्धूम गन्ध रजनीगन्धा की बिखर चली,
हो उठी सुवासित अब जीवन की गली-गली।
नव सपने मंगल-खील बने छितराये,
किसलय-कर पुलकित पवन परस थर्राये।

मोहक निशीथ : यह गूढ़ ग्रन्थि निशि-दिन के बीच, तुम्हारी।
उड़-उड़ विहाग की धुन लाई शुभ घड़ियाँ खींच, तुम्हारी!
मर्मर, कलरव, मिनसार-गीत,-मिल मंगल-ध्वनि बन गूँज उठे,
बरसा अरुणिम सिन्दूर-पुंज, पिक-स्वर दिगन्त भर कूज उठे।
चिर ज्योति ज्वाल से धुल खुल आये कनक-प्राण
खंजन दृग सलज चले,—सुधीर मन के प्रमाण!
नाची, काशों की पाँत-पाँत, फहराई,
स्वर्णाभ शालि की राशि-राशि झुक आई!

अब नील-कंठ विहगों से भर सज आई राह तुम्हारी!
नूपुर-नूपुर में आज बजी भरमायी चाह तुम्हारी!

(हेमन्ती)

गुनगुनाऊँ, इक नया-सा गीत गाऊँ!
बाहुओं में बीन जो स्वप्निल पड़ी है,
इस हिमन्ती भोर में उसको जगाऊँ! गुनगुनाऊँ!

तार मन के मिल गये जब आज पहलीबार मेरे,
खो गया सब मौन कोलाहल किसी संगीत में।

इस उनींदी बीन की भी मूकता पर ध्यान जैसे जा पड़ा कितना सबेरे ?
—अब न कोई फर्क इसमें, और भूली प्रीत में !
खो गया सब मौन कोलाहल किसी संगीत में ।
सिहर-सिहर सुनील-अरुणिम व्योम नीरव गुनगुनाता,
पुलक-पुलक वसुन्धरा दृग खोलती है ।
करुण-करुण मरण तिमिर बन छिप चला है,
मधुर-मधुर किरण नयन में बोलती है,—
"जिन्दगी पुकारती तुझे असीम प्यार से,
प्यार है पुकारता अनन्त कर्म-ज्वार से,
कर्म भी पुकार रहा मर्म के अभाव में,
मर्म है पुकारता दबा हुआ स्वभाव में ।
उठो-उठो, अजेय ! तुम बढ़ो-बढ़ो,
नयी हवा, नयी दिशा गढ़ो-गढ़ो ···।"
एक साथ ही पुकार बूँद की, समुद्र की,
दे जवाब,—क्या मजाल एक जीव क्षुद्र की ?
[चाहती वसन्त-हास नेत्र-ज्वाल रुद्र की ··]
एक साथ ही पुकार बूँद की, समुद्र की !
पर, सुनूँ पहले सुबुकती बूंद की आवाज, छनभर गुनगुनाऊँ;
सिन्धु पर जिसके सहारे छा सकूँ, उस मौन वीणा को जगाऊँ ····।
—जाग, री ! जाग, री हेमन्तिनी, नयनागरी !
हर नये अरमान का रंगीन-सा छाया कुहासा,
भर रहा जिसमें यह सौरभ, वहाँ उठता धुआँ-सा ।
बन रहीं ठंढी उसाँसें भाप-सी,
रूप सपनों का विरचने को उमगती अंग-अंग सुगन्ध उन्मद ताप-सी ।
जाग री अबतो जगा वह राग नूतन —दूरियों में पांस का उल्लास भरदे ।
चूमते-से नाचते हर एक क्षण में मुग्ध मन का चल निखिल इतिहास भरदे।
ताल-लय पर शस्य, कौशल, मर्म,—उच्छल,—
थिरक झूमें, भर उठे उन्माद, री !
जाग, री ! जाग, री !! जाग, री !!!



'वेलि क्रिसन रुकमणी री'

श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

'राठौर राज प्रिथीराज री कही वेलि क्रिसन रुकमणी री' डिंगल की प्रसिद्ध रचना है। ये वे ही इतिहासप्रसिद्ध पृथ्वीराज हैं जिन्होंने अकबर से संधि का प्रस्ताव करने पर महाराणा प्रताप को क्षोभपूर्ण पत्र लिखा था। इनका जन्म संवत् १६०६ वैक्रम और देहावसान १६५७ में हुआ था। ये बीकानेर नरेश राव कल्याणमल के पुत्र थे। ये मुगलसम्राट् अकबर के प्रिय और दरबारी थे। इन्होंने पिंगल और डिंगल दोनों में रचनाएँ की हैं। इनकी पिंगल की रचनाएँ फुटकल ही मिलती हैं। शिवसिंह सरोज में इनका निम्नलिखित सवैया उद्धृत है—

कै पृथिराज छिप्यो अलि को गन कै घन की उमड़ी ठटियाँ।
कै नग सों मखतूल सिंहासन कै सनि-मंदिर की टटियाँ॥
कै कवि व्याल जुरे पन सों पन आनन-चंद्र अमी डटियाँ।
कै दल काम को रोकन कों तिय की पटियाँ तम की घटियाँ॥

इससे प्रमाणित है कि इन्होंने पिंगल में शृंगार की फुटकल रचनाएँ की हैं। हो सकता है, कोई रीति-ग्रन्थ ही लिखा हो। स्वर्गीय लाला भगवानदीन जी ने अपनी अलंकार-मंजूषा में क्रम या यथासंख्य अलंकार के उदाहरण में एक छप्पय उद्धृत किया है जिस पर वे बहुत फिदा थे। वह भी किसी 'पृथिराज' का ही है—

आनन बेनी नैन बन पुनि दसन सुकटि गति।
ससि सर्पिन मृग पिक अनार केहरि करानन पति।
पुरन खिझत जक तरुन पक्व बरपंच पुष्टवल।
सरद पताल बिछोह बाग तरु गिरि बन कज्जल।
निसि सन्निवेस सावक चुवत बिगस प्रसूती मद झरत।
'पृथिराज' भनत बंसी बजत अस बनिता बन-बन फिरत॥

यदि यह रचना भी इन्हीं राठौर पृथ्वीराज की हो तो मानना पड़ेगा कि ये बहुत ही समथ कवि थे। इस छुप्पय में आनन आदि सात पदार्थों का वर्णन है जिनका उल्लेख प्रथम चरण मे है। द्वितीय में उनके उपमानों का उसी क्रम से उल्लेख है। तीसरे चरण में उनके स्वरूप का कथन है। चौथे में देशस्थिति और पाँचवें में अवस्था-स्थिति का क्रमशः वर्णन है। सात पदार्थों का पाँच बार क्रम से कथन हिंदी-साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है। अतः यथासंख्य का ऐसा उत्तम उदाहरण दूसरा आज तक अप्राप्त है।

पृथ्वीराज की प्रकीर्ण रचना ही पिंगल या व्रजी में मिलती है। पर डिंगल में कई व्यवस्थित रचनाएँ हैं—वेलि क्रिसन रुकमणी री, दसम भागवत रा दूहा, दसरथ-रावउत, बसदेव रावउत और गंगालहरी। इनकी सबसे उत्कृष्ट कृति 'वेलि' ही है। इसमें श्रीकृष्ण और रुक्मिणी का विवाह श्रीमद्भागवत के आधार पर वर्णित है। श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध (उतरार्ध) के ५२ से ५५ अध्यायों में क्रमशः रुक्मिणी के उद्वाह-प्रस्ताव, हरण, उद्वाह और प्रद्युम्नोत्पत्ति का निरूपण है। 'वेलि' प्रमुखतया पहले तीन अध्यायों के आधार पर निर्मित है। चौथे अध्याय की घटनाओं का विस्तार 'वेलि' में नहीं है। केवल प्रद्युम्न के जन्म का उल्लेख है। स्वयम् कर्ता ने ही श्रीमद्भागवत का ऋण स्वीकार किया है—

वल्ली तसु बीज भागवत वायौ महि थाणौ प्रिथु दास मुख।
मूल ताल जड़ अरथ मंडहे सुथिर करणि चढ़ि छाँह सुख।
पत्र अक्खर दल टूटला जस परिमल नवसतंलु विधि अहोनिसि।
मधुकर रसिक सु भगति मंजरी मुगति फूल फल मुगति मिसि॥

इसमें श्रीमद्भागवत को बीज कहा गया है। अर्थात् इस ग्रंथ में भागवत की घटनाएँ बीज रूप से गृहीत हैं। ऊपर भक्तिमंजरी, मुक्ति-फल को देख और नाभादास की भक्तमाल में पृथ्वीराज को इस रूप में गुंफित पाकर—

गीत सवैया स्लोक वेलि दोहा गुन नवरस।
पिंगल काव्य प्रमाण बिबिध बिध गायो हरिजस।
परिदुख बिदुख सलाघ्य बचन-रचना जु उचारे।
अर्थबिचित्रन मोल, सबै सागर उद्धारे।
रुकमिनि लता बरनन अनुप, बागीस-बदन कल्यान-सुव।
नर देव उभै भाषा निपुन, प्रथीराज कविराज हुव॥

इन्हें भक्त और 'वेलि' को भक्तिग्रन्थ माननेवाले संत-सज्जन भी हो गए हैं। किसी

ग्रन्थ की फलश्रुति के आधार पर या नाभादास की भक्तमाल में उल्लिखित होने से भक्त-भक्ति का निश्चय होने लगे तो कवि-काव्य की अभिधा अतीत के बहुत कम ग्रन्थों और कर्ताओं को प्राप्त होगी। प्राचीनों ने जो काव्य का भेदक लक्षण अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति को माना था उसका रहस्य यही है कि काव्य की कथन-शैली में अन्य उद्देश्यों से निर्मित ग्रन्थों की अभिव्यक्ति-शैली से पार्थक्य होता है। 'वेलि' में स्थान-स्थान पर इस विशिष्ट शैली की योजना ही पुकार कर कह रही है कि यह काव्य-ग्रन्थ है और उसका कर्ता कवि है। भक्तों या भक्ति-ग्रन्थों द्वारा काव्य की इस शैली का प्रयोग यदि किया गया है तो वे पहले कवि और उनकी रचना पहला काव्यग्रथ है। कविता साधन के रूप में भी प्रयुक्त हो सकती है और अपना साध्य वह स्वयम् भी हो सकती है। जहाँ उसका साध्य उससे भिन्न है वह भी कविता कही जा सकती है पर उसे साथ ही साध्य की दृष्टि से भी देखा जा सकता है। पर जहाँ उसका साध्य स्वपर्यवसायी है वहाँ कोई विवाद ही नहीं। भगवान् या भगवल्लीला का वर्ण्य रखने मात्र से भक्ति साध्य नहीं हो सकती। अधिकतर कवियों ने वर्ण्य ऐसे ही लिए हैं पर उन्हें भक्त या उनकी कृति को भक्ति-ग्रंथ नहीं कहा जा सकता। जैसे केशवदास की रामचंद्रचंद्रिका को और नरोत्तमदास के सुदामाचरित्र को। 'वेलि' सुदामाचरित के ढंग का खंडकाव्य है।

'वेलि' का प्रधान रस शृंगार है। पर उसमें 'हरण' के प्रसंग में वीररस या युद्धवीरत्व को देखकर तथा युद्धकार्य के अंतर्गत वीभत्स व्यापारों की नियोजना पाकर कुछ महानुभाव रस-विरोध के चक्कर में पड़ गए हैं। उन्हें जानना चाहिए कि रस-विरोध तभी होता है जब दो रस तुल्य बल या तुल्य स्थितिवाले हों। अंगागी रूप में अभिव्यंजित रसों में पारस्परिक विरोध होता ही नहीं। रुक्मिणीहरण के बिना शृंगार की पूर्ण अभिव्यक्ति का अवसर ही नहीं आ सकता था। अतः हरण के लिए किए गए प्रयत्न में उत्साह और उत्साह की व्यक्ति में जुगुप्सा को देख इस रस-विरोध का प्रश्न खड़ा करना ही काव्यपरंपरा से पूर्ण परिचय का अज्ञान प्रकट करना है। काव्य-परपरा के अज्ञान या अल्प ज्ञान के कारण हिंदी में बहुत से अनीप्सित प्रसंग उठा करते हैं और अनेक अशुद्ध अर्थ सामने रखे जाते हैं। 'वेलि' के संस्करणों में 'कुमकुम' का अर्थ कई स्थलों पर 'गुलाबजल' किया गया है जब कि कुमकुम केसर को कहते हैं। लक्षण से किसी सुगंधित जल को 'कुमकुम पानी' कह सकते हैं या कहते हैं। यह भ्रम 'वेलि' की संस्कृत टीका का अंधानुधावन से हुआ है। उन्होंने 'कुमकुमेन सुगंधपुष्प-रसविशेषेण मज्जनं स्नानं कृत्वा' लिखा तो 'पुष्परस विशेष' गुलाबजल हो गया।

ऐसे ही 'पोत' गुरियों या काँच की छोटी-छोटी गुरियों को कहते हैं जिनकी कंठी गले में पहनी जाती है। पर उसका अर्थ 'काला रेशमी डोरा' किया गया है। संस्कृत टीका करनेवाले ने 'चीडीउ' इति नामाभरणं बद्धमितिशेषः' लिखा पर उसपर भी ध्यान नहीं गया। 'पोत' को 'पवित्री' से व्युत्पन्न किया गया है। पर वह व्रज में 'पवित्रा' नाम से आज भी प्रसिद्ध है। 'पवित्रा' रेशमी दानों की बनी माला होती है जिसे धर्मकृत्यों में विशेषतया स्त्रियाँ पहनती हैं। 'पवित्री' कुश से बनती है, वह भी धर्मकृत्यों में विशेषतया पुरुषों द्वारा हाथ में पहनी जाती है।

'वेलि' के संबंध में मौलिकता का भी प्रश्न उठा है। कवि ने भागवत को बीज कहा है। बीज में घटनाएँ भागवत की हैं, अभिव्यक्ति उसकी है। कहीं यदि भागवत में कही उक्ति आ ही जाय तो इतने से ही मौलिकता का निरसन नहीं हो जाता। जैसे रुक्मिणी की प्रेषित पत्रिका में भागवत में यह आया है—

'मा वीरभागमभिमर्शतु चैद्य आराद्गोमायुवन्मृगपतेर्नलिमम्बुजाक्ष।'

'वेलि' में यही यों है—

बलि बंधण मूझ स्याल सिंघ बलि प्रासै जौ बीजौ परणै।
कपिल धेनु दिन पात्र कसाई तुलसी करि चांडाल तणै॥

भागवत में केवल भगवान् की वीरता को ओर संकेत है। सिंह की बलि शृगाल ले तो सिंह के विक्रम को चुनौती है। पर वेलि में अपनी दीनता और पूतता की ओर भी संकेत है। अतः भागवत बीज रूप में ही वेलि के पल्लवित, पुष्पित फलित होने में माना जा सकता है। मौलिकता वेलि में सोलहो आने है।

कवि की मौलिकता इस बात में देखनी चाहिए कि उसने परंपरा में कथित, पिष्टपेषित विषयों में नूतनता की क्या और कैसी उद्भावना की है। पृथ्वीराज ने 'वेलि' में नवीन कल्पनाएँ स्थान-स्थान पर की हैं। वयःसंधि के वर्णन में कवि लिखता है—

पहिलौ मुख राग प्रगट थ्यौ प्राची अरुण कि अरुणोद अंबर।
पेखे फिरि जागिया पयोधर संझा-वंदण रिखेसर॥

रुक्मिणी के मुख में 'राग' (अरुणिमा) का उदय हुआ, जैसे प्राची में अरुणोदय की ललाई, जिसे देखकर संध्यावंदन करने के लिए स्तन ऋषीश्वर की भाँति जग (उठ रहे हैं। कवि ने वयःसंधि, संयोग, ऋतुवर्णन आदि के प्रसंगों में नवीनोद्भावनाएँ बहुधा की हैं जिनका विस्तार अनपेक्षित है। कवि की शक्ति या प्रतिभा का

पता इसी से चल जाता है। ग्रंथ में 'निपुणता' भी स्थान-स्थान पर संकेतित है जिसके लिए ग्रंथांत में उसने स्वयम् कहा है—

ज्योतिषी वेद पौराणिक जोगी संगीती तारकिक सहि।
चारण भाट सुकवि भाखा चित्र करि एकठा तो अरथ कहि ॥

पुस्तक की भाषा साहित्यिक राजस्थानी है। डिंगल की प्रसिद्ध 'वण सगाई' का सर्वत्र निर्वाह है। इसमें प्रयुक्त छंद 'वेलिया गीत' है जिसकी परिभाषा डिंगल के प्रसिद्ध ग्रंथ रघुनाथदीपक में यों है—

सोलै कला विषम पद साजै, समपद पनर कला समाजै।
धुर अठार मोहरा गुरु-लघु धर, कहजै मंछ वेलियो इम कर ॥

विषम चरणों में १६-१६ और सम में १५-१५ मात्राएँ रहती हैं। प्रथम चरण में कहीं-कहीं १६ के बदले १८ मात्राएँ होती हैं पर तब तुक में गुरु-लघु रखते हैं। वेलि के सम चरणों में १५ के स्थान पर १३ और १४ मात्राओं का भी प्रयोग है। पर तुक का रूप बदला मिलता है। इससे अनुमित होता है कि इस छंद का प्रयोग-प्रवाह कुछ और प्रस्तार चाहता है जो प्रस्तुत प्रसंग में अनपेक्षित है। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि संस्कृत की आर्या और प्राकृत की गाथा का यह छंद है। तत्वतः यह छोटी सैणोर छंद के चार भेदों में से है। तीन अन्य भेदों के नाम सोहणो, खुंद और जांगड़ों हैं। जैसे गाथा के विषम चरणों में मात्राएँ नियत होती हैं वैसे ही वेलियों के सम चरणों की मात्राएँ एक सी होती हैं। विषम चरणों में कहीं एक सी और कहीं भिन्न-भिन्न मात्राएँ होती हैं। सम चरणों में कहीं १३-१३, कहीं १४-१४ और कहीं १५-१५ मात्राएँ होती हैं। कवि ने इसीसे विभिन्न प्रकार के रूपों का प्रयोग किया है।

'वेलि' का निर्माण-काल यों कथित है—

७ ३ ६ १
बरसि अचल गुण अंग ससी संवति तवियौ जस करि श्रीभरतार।
करि श्रवणे दिन रात कंठ करि पामे स्री फल भगति अपार ॥

अंकों की वाम गति के अनुसार संवत् १६३७ हुआ। किंतु, 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' में उदयपुर के सरस्वती-भंडार की तीन हस्तलिखित प्रतियों के थोड़े हेर-फेर के साथ निम्नलिखित छंद मिलता है—

सोलह से संवत चयाले बरसे सोम तीज बैसाख सुदि।
रुक्मिणि कृष्ण रहस्य रमणरस कथी वेलि पृथ्वीराज कमंधि ॥

श्री मेनारिया ने संगति यों बैठा ली है कि १६३७ में रचना का आरंभ हुआ और १७४४ में उसकी समाप्ति हुई। पर दोनों के पाठ इस संगति को नहीं सकारते। यदि दोनों ही कर्ता की ही रचनाएँ हों तो संगति यह हो सकती है कि १६३७ में पुस्तक निर्मित हो चुकी थी पर वह जनसाधारण के लिए १६४४ में ठीक करके प्रसारित की गई। यदि ऐसा न हो तो यही मानना पड़ेगा कि उदयपुर की प्रतियों में निर्माण-काल का छंद सर्वप्रथम प्रतिलिपि करते समय किसी ने जोड़ा है और अनुलिपि के संवत्, तिथि आदि का उल्लेख किया है। ग्रंथ का प्रसार प्रणेता के जीवन-काल में ही हो गया था और उसकी प्रशस्ति भी बहुत हो रही थी—

रुक्मणि गुण लखण रूप गुण रचवण, वेलि तास गुण करै बखाण।
पांचमो वेद भाखियो पीथल, पुणियौ उगणीसमौ पुराण।
केवल भगत अथाह कलावत तेजु किसन-त्री गुण तवियौ।
चिहुं पांचमो वेद चालदियौ नव दूणम गति नीगमियौ।
मैं कहियौ हर भगत प्रिथीमल, अगम अगोचर अति अचड़।
व्यास तणा भाखिया समोवड़, ब्रह्म तणा भाखिया बड़ ॥[1]

ऐसी जनश्रुत है कि साँया जी ने भी 'रुक्मिणी हरण' नाम का ग्रंथ डिंगल में प्रस्तुत किया, जिसे सुनकर सम्राट् अकबर ने पृथ्वीराज से कहा कि 'तुम्हारी 'बेले' (लता) को 'हरण' (हरिण) चर गया।' अर्थात् 'वेलि' की कीर्ति 'हरण' के समक्ष समाप्त हो गई। पर यह चारणों की मनगढ़ंत जान पड़ती है क्योंकि 'रुक्मिणी-हरण' साधारण रचना है। 'वेलि' के संबंध में और भी अनेक किंवदंतियाँ हैं, प्रायः वैसी ही जैसी किसी उत्तम काव्य-ग्रंथ के लिए पुराकाल में चल पड़ती थीं, जैसे भगवल्लीला वर्ण्य विषय हुआ तो स्वयम् भगवान् वेश बदलकर उसे सुनने आते थे, आदि। ऐसी किंवदंतियाँ भी 'वेलि' के संबंध में प्रचलित हैं। इससे इतना सिद्ध है कि इस ग्रंथ का लोक में अच्छा प्रचार-प्रसार रहा है और समुचित मान भी इसे प्राप्त हुआ है। इसपर तीन पुरानी टीकाएँ भी हैं। दो तो राजस्थान की लोकभाषा में हैं जो चारणों द्वारा लिखी हुई कही जाती हैं और तीसरी संस्कृत में (सं० १६७८) जिसके रचयिता पाल्हणपुर-निवासी वाचक सारंग हैं।

१—अन्य प्रशस्ति के लिए देखिए—मुंशी देवी प्रसाद का राजरसनामृत, पृ० ४३ अथवा श्री मोतीलाल मेनारिया का 'राजस्थानी भाषा और साहित्य', पृ० १२६।

रेडियो फैंटेसी

रंगमंच



के अभी भी कुँवारी हैं!

श्री सिद्धनाथ कुमार

(वाद्य-संगीत से दृश्य प्रारंभ)

रेखा—रात बीत रही है माधव !

माधव—मेरी आँखों में नींद नहीं है।

रेखा—मैं कहती हूँ, अब सो जाओ।

माधव—नहीं रेखा, अभी मैं नहीं सो सकता।

रेखा—न मालूम, तुम्हें कभी-कभी क्या हो जाता है।

माधव—हो क्या जाता है, यों ही कुछ सोचने लगता हूँ।

रेखा—मैं भी तो सुनूँ, क्या सोच रहे हो !

माधव—तुम्हें क्या बतलाऊँ ?

रेखा—क्यों, मेरे जानने योग्य नहीं है ?

माधव—नहीं रेखा, जानने योग्य क्यों नहीं है, लेकिन मेरा मन कुछ अशांत-सा है।

रेखा—यही तो जानना चाहती हूँ कि इस शांति की बेला में तुम अशांत क्यों हो ?

माधव—अशांत। (हल्की हँसी) मैं कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' की बात सोच रहा हूँ रेखा !

रेखा - तो इसमें अशांत होने की क्या बात है ?

माधव—अशांत होने की बात नहीं है ?

रेखा - (हल्की हँसी) कवि और कलाकार सचमुच पागल होते हैं, यह बात तो तुम्हें देखकर ही मान गई हूँ माधव !

माधव—मैं पागल हूँ ? कालिदास पागल थे ! अन्यायी !

रेखा—तुम्हें क्या हो गया है माधव ?

माधव—कुछ नहीं, कुछ नहीं। आज मैं विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर का एक निबंध पढ़ रहा था। उसकी पंक्तियाँ अभी भी मेरे कानों में गूँज रही हैं। सुनती हो ?

रेखा—नहीं माधव !

माधव—वाह ! यह गूँजती हुई आवाज तुम नहीं सुनती ?

एक स्वर—संस्कृत-काव्यों में दो तपस्विनियाँ और हैं, जो हृदय को तपोवन बनाकर उसमें निवास करती हैं। वे हैं प्रियंवदा और अनुसूया। पतिगृह-गामिनी शकुन्तला को विदा करके वे रोती-रोती लौट आईं। नाटक में फिर उनका प्रवेश नहीं देखा गया, उन्होंने फिर हमारे हृदयों में ही आसन जमा लिया !

माधव—सुनती हो रेखा ?

रेखा—क्या सुना रहे हो माधव ? मैं तो कुछ भी नहीं सुनती।

माधव—कुछ भी नहीं सुनती ? सुनो भी तो !

स्वर—शकुन्तला के पतिगृह-गमन के बाद प्रियंवदा और अनुसूया का क्या हुआ, यह बात शकुन्तला नाटक के लिये बिल्कुल ही अनावश्यक है, किन्तु क्या इसीलिये वह अकथित और अपरिमेय वेदना वहीं पर शान्त हो गई ? क्या वह हमारे हृदय में बिना छन्द और बिना भाषा के ही सदा जाग्रत नहीं रहने लगी ?

माधव—यही तो मैं भी कह रहा हूँ रेखा !

रेखा—क्या कह रहे हो तुम ? मुझे तो कुछ मालूम ही नहीं होता।

माधव—हुँह, तुम्हें क्या मालूम होगा ?

रेखा—तुम्हीं रात भर मालूम करते रहो ! मुझे तो नींद आ रही है। मैं सो रही हूँ।

माधव—अच्छा रेखा, सो जाओ, मेरा भी मन जब शान्त होगा, सो जाऊँगा।

(क्षणिक शांति के बाद) क्यों रेखा, सो गई ? कालिदास ने प्रियंवदा और अनुसूया के प्रति सचमुच अन्याय किया है—अन्याय !

(धीरे-धीरे उठता हुआ स्वप्न-सूचक संगीत)

कल्पना—कलाकार माधव ! कलाकार !

माधव—कौन हो तुम ?

कल्पना—मैं ? इससे तुम्हें क्या मतलब ?

माधव—तो, तुम मुझे पुकार क्यों रही हो

कल्पना—तुम्हें शान्ति देने के लिये ।

माधव—शान्ति ?

कल्पना—हाँ-हाँ, तुम अशांत हो न ? मैं तुम्हें शान्ति देना चाहती हूँ ।

माधव—शान्ति दोगी ? कैसे ?

कल्पना—कैसे क्या बतलाऊँ ? तुम शान्ति नहीं चाहते क्या ?

माधव—चाहता क्यों नहीं ?

कल्पना—तो, आओ । शीघ्रता करो । मेरे साथ चलो । उठो । उड़ चलो । पीछे लौट चलो ।

(शून्य में उड़ने की आवाज)

स्वर—१६००-१८७५-१८५७

(भीड़ की आवाज)

कुँवर सिंह—यह विद्रोह का झंडा खड़ा रहे, गिरने न पाये, जीत हमारी होगी !

स्वर—१८५०-१८३५-१८००-१७६०

बिहारी—सीस मुकुट कटि काछनी, कर मुरली उर माल ।
यहि बानिक मो मन बसहु सदा बिहारीलाल ॥

कल्पना—बढ़ते चलो कलाकार !

माधव—आ रहा हूँ देवि !

स्वर—१७२०-१७००-१६८८

तुलसी—सिया राममय सब जग जानी ।
करौं प्रनाम जोरि जुग पानी ॥

कल्पना—माधव, और आगे बढ़ो ।

माधव—बढ़ रहा हूँ, क्या कहूँ, तुम्हें ?

कल्पना—कल्पना !

माधव—कल्पना !

स्वर—६६०-८८०-४००-३००

माधव—और कहाँ कल्पना ?

कल्पना—और नहीं कलाकार ! मैं तुम्हें शीघ्र ही रुकने को कहूँगी ।

माधव—वह कौन है वहाँ—उस पर्वत पर ?

कल्पना—वह यक्ष है, कालिदास का विरही यक्ष !

माधव—आषाढ़ के मेघ आकाश में घिर रहे हैं, यक्ष व्याकुल हो रहा है कल्पना ! चलो न वहीं ।

कल्पना—नहीं माधव, मैं तुम्हें यक्ष के पास नहीं, प्रियंवदा और अनुसूया के पास ले जाऊँगी ।

माधव—कहाँ हैं वे ?

कल्पना—उन्हें ही तो देख रही हूँ । आगे बढ़ो ! वह देखो, वहाँ, उस कुंज में !

माधव—तो, चलो न वहीं ।

कल्पना—नहीं माधव, मैं वहाँ नहीं जाऊँगी ।

माधव—तब ?

कल्पना—तब क्या ? तुम चले जाओ । फिर लौटकर आना, तो साथ चलेंगे ।

माधव—तुम क्यों नहीं चलती ?

कल्पना—मैं कहती हूँ, तुम जाओ, देर न करो । इच्छा होगी, चली आऊँगी ।

(वाद्य-संगीत से दृश्य-परिवर्त्तन)

(चिड़ियों की चहचहाहट आदि की आवाज)

प्रियंवदा—(निकट आती हुई) अनुसूया ! अनुसूया ! अरी पगली, मैं तुम्हें कब से पुकार रही हूँ, तुम्हें कुछ सुनाई ही नहीं पड़ता ?

अनुसूया—सचमुच मुझे पुकार रही थी ?

प्रिय०—तुम्हें सुनाई दे, तब तो ! कर क्या रही हो ?

अनु०—यही एक चित्र बना रही हूँ प्रियंवदा !

प्रिय० तुम्हारा तो मन चित्र ही में लगता है । देखूँ, किसका चित्र है ?

अनु०—देखो न, यही तो है ।

प्रिय० यह तो किसी राजकुमार का चित्र है ।

अनु०—हाँ प्रियंवदा !

प्रिय०—बड़ा सुन्दर है । इसकी आँखों से कितनी मादकता बरस रही है !

अनु०—हाँ सखी !

प्रिय०—कैसे बनाया तुमने ? कहीं इस राजकुमार को देखा है क्या ?

अनु०—नहीं प्रियंवदा, जहाँ तुम हो, वहाँ मैं। देखूँगी कहाँ से ? महाराज दुष्यंत के बाद इस उपवन में दूसरा कोई राजकुमार आया ही कहाँ ?

प्रिय०—हाँ अनुसूया, सच कहती हो। देखते-देखते आँखें थक गईं, लेकिन इस उपवन में कोई राजकुमार नहीं आया। मन करता है,...

अनु०—क्या मन करता है सखी ?

प्रिय०—यही कि महाराज दुष्यंत-जैसा ही कोई राजपुरुष हमारा अतिथि होता, तो हम उसका कितना सत्कार करतीं !

अनु०—लेकिन कोई अतिथि हुआ तो नहीं।

प्रिय०—यही तो सोचती हूँ अनुसूया, तुम कितनी भाग्यशालिनी हो !

अनु०—मैं ? भाग्यशालिनी हूँ ? (हल्की हँसी)

प्रिय०—भाग्यशालिनी तो हो ही, अपनी कल्पना के संसार में कभी किसी महाराज को, कभी किसी राजकुमार को बुला लेती हो, और उसे अपने चित्रपट पर उतार देती हो !

अनु०—यह तो चित्रकला की महिमा है प्रियंवदा !

प्रिय०—तुम्हारी चित्रकला की निपुणता मैं अभी भी नहीं भूली हूँ। तुमने शकुन्तला के विदा के समय अपनी चित्रकला के बल पर ही उसे राजकीय वस्त्र पहनाये थे।

अनु०—हाँ सखी, उन दिनों की याद न दिलाओ। वे तो सपने-जैसे बीत गये, फिर लौटकर आनेवाले नहीं हैं।

प्रिय०—हाँ अनुसूया, मैं भी यही सोचती हूँ, वे दिन फिर एक बार आ पाते !

अनु०—मेरे मन में भी उन दिनों की स्मृतियाँ मचल रही हैं प्रियंवदा ! उस दिन शकुन्तला के मुख पर एक भौंरा मँड़रा रहा था, और उसी समय महाराज दुष्यन्त उपवन में चले आये।

प्रिय०—मैं तो उस भौंरे को कब से खोज रही हूँ सखी ! एक बार मेरे मुख पर भी मँड़राता।

अनु०—लेकिन,

प्रिय०—लेकिन क्या, कुछ नहीं। लताओं को देखा, फूलों के निकट गई, लेकिन वह भौंरा कहीं न मिला।

अनु०—इन कल्पनाओं से लाभ ही क्या है प्रियंवदा ?

प्रिय०—हाँ सखी, ये कल्पनायें स्वप्न हैं, छलना हैं, इनमें उलझने से कोई लाभ नहीं। और मैं भी कैसी बेसुध हूँ, क्या कहने आई थी, क्या कहने लग गई!

अनु०—क्या कहने आई थी प्रियंवदा?

प्रिय०—यही कि उठो, घड़ा उठाओ, लताओं और वृक्षों को सींचने का समय हो गया।

अनु०— जरा यह चित्र पूरा न कर लूँ?

प्रिय०—नहीं अनुसूया, शीघ्र उठो, पिता कण्व आयेंगे तो क्या कहेंगे? और, यह माधवी लता हमारे स्नेह ही पर तो जीवित है। याद है न, शकुन्तला इसे हमें ही सौंप गई है।

अनु०—याद है सखी!

प्रिय०—लेकिन जाने दो अनुसूया, चलो, बीती बातों को याद करने से क्या?

अनु०—हाँ सखी, चलो, देखो न, माधवी लता हमें बुला रही है।

प्रिय०— उठाओ घड़ा।

(क्षणिक शान्ति, फिर पानी गिरने की आवाज)

अनु०—प्रियंवदा, उस झुरमुट से खड़खड़ाहट कैसी हो रही है?

प्रिय०—कोई मृग होगा। अच्छा सखी, मेरी वल्कल की कंचुकी जरा ढीली कर दे न!

अनु०— मैं क्या इसीलिये हूँ? कभी शकुन्तला की कंचुकी ढीली की थी, आज तुम्हारी कर दूँ? अच्छा!

प्रिय०—देखो सखी, कोई आ रहा है क्या?

अनु०—यह तो मैं पहले ही कह रही थी।

प्रिय०—शायद कोई अतिथि है।

अनु०—संकोच से आगे नहीं बढ़ रहा है। बुला लो।

प्रिय०—आइये, चले आइये। कौन हैं आप? क्या सत्कार करें आपका?

अनु०—आप बोलते क्यों नहीं? आज्ञा दीजिये, आपकी क्या सेवा की जाय?

माधव—कुछ नहीं देवि, कुछ नहीं। मुझे सेवा नहीं चाहिये। मैं केवल आपके दर्शन चाहता था।

प्रिय०—दर्शन?

माधव—हाँ देवि, तुम्हें देखने ही के लिये काल की लम्बी दूरी पार कर चला आ रहा हूँ।

अनु०—अहो भाग्य हमारे! हमारे प्रति अभी भी किसी के हृदय में स्निग्ध भावनाएँ हैं? किसी के मन में हमें देखने की आकांक्षा भी उठती है?

माधव—क्यों नहीं अनुसूया?

अनु०—अनुसूया? तुमने हमारा नाम कैसे जान लिया अतिथि?

माधव—क्षमा करो देवि, मैं कब से यहाँ झुरमुट में खड़ा तुम्हें देख रहा था, तुम्हारी बातें सुन रहा था!

प्रिय०—शायद तुम प्रतीक्षा कर रहे थे कि कोई भौंरा हमारे मुख पर उड़-उड़ कर हमें सताये, तब तुम हमारी रक्षा के लिये प्रकट हो!

माधव—नहीं देवि, मैं तुम्हें यों ही देख रहा था। न जाने क्यों तुम्हें देखकर मेरे मन में एक कैसी करुण रागिनी बजने लगती है, मेरे तार-तार झंकृत हो जाते हैं।

अनु०—अरे, तुम अभी खड़े ही हो? बैठो अतिथि, आसन ग्रहण करो। प्रियंवदा, जा, कुटी से कुछ फल-फूल ले आ।

माधव—नहीं प्रियंवदा, इस सत्कार की कोई आवश्यकता नहीं। मैं तुम्हारे दर्शन से ही तृप्त हो गया।

प्रिय०—तो आओ अतिथि, इस कदलीपत्र के आसन को सुशोभित करो।

माधव—यह स्थान तो शायद वही है, जहाँ दुष्यन्त बैठे थे?

अनु०—हाँ अतिथि, यह तभी से सूना है।

माधव—लेकिन अनुसूया, मैं महाराज दुष्यन्त के आसन पर बैठने योग्य नहीं हूँ!

अनु०—ऐसा न कहो अतिथि, हम तो तुम्हें उन्हींके जैसा समझती हैं।

प्रिय०—हाँ अतिथि, हम तुम्हें अतिथि कब तक कहें?

माधव—लोग मुझे माधव कहते हैं।

प्रिय०—माधव!

अनु०—नाम तो बड़ा सुन्दर है!

प्रिय० तुम्हें देखकर हमें लगता है, जैसे हमारे जीवन-कानन में भूल-भटक कर सचमुच माधव चला आया हो!

माधव—तुम क्या कहती हो प्रियंवदा?

अनु०—प्रियंवदा सच कहती है माधव! तुम्हें देखकर मुझे इतना आनन्द होता है कि क्या कहूँ! लगता है, जैसे कोई भूली बात याद आ गई हो!

माधव—तुम कितनी भावुक हो अनुसूया!

अनु०—भावुक ! (हल्की हँसी) लेकिन प्रसन्नता है कि तुमने मेरे अन्तर में मचलती हुई भावनाओं को पहचान लिया। तुम कितने सहृदय हो !

माधव—मैं कवि हूँ अनुसूया !

प्रिय०—यह क्या कहा तुमने ?

माधव—यही तो कि मैं कवि हूँ।...क्यों ? तुम्हारे मुख पर यह गहरी छाया कैसी घिर आई ? तुम आशंकित क्यों हो गई ?

प्रिय०—हमें कवियों से भय लगता है माधव !

अनु०—वे बड़े निष्ठुर होते हैं।

माधव—क्या कह रही हो तुम ?

प्रिय०—सच कह रही हूँ माधव !

अनु०—सुनी-सुनाई बात नहीं, अनुभव का सत्य है।

प्रिय०—कालिदास कवि थे।

अनु०—कवि ही नहीं, महाकवि थे।

प्रिय०—और, उन्होंने कितनी निष्ठुरता की है ?

अनु०—हमें शाप दिया है।

प्रिय०—निष्ठुर शाप !

अनु०—दुर्वासा के शाप से भी कठिन !

प्रिय०—दुर्वासा ने शकुन्तला को शाप दिया था, शकुन्तला शापमुक्त हो गई।

अनु०—लेकिन कालिदास का शाप आज भी हमारे शीश पर मँडरा रहा है।

माधव—कौन से शाप के विषय में कह रही हो अनुसूया ?

अनु०—नहीं देखते माधव ? वह देखो, आश्रम के चारों ओर महाशाप की काली रेखा खिची हुई है।

माधव—कैसी रेखा ? मैं तो नहीं देखता।

प्रिय०—नहीं देखते ? तुम भी कवि हो न ?

माधव—यह क्या प्रियंवदा ?

प्रिय०—कालिदास निष्ठुर थे, उन्होंने हमारी आशा-आकांक्षाओं पर अग्निवर्षा की है।

अनु०—हमारी कोमल भावनाओं की कलियों को अपने निष्ठुर हाथों से मसल दिया है उन्होंने।

माधव—हाँ, यह तुम सच कहती हो। मैं भी यही कहता हूँ।

प्रिय०—हाँ, तुम सहृदय हो, सरल हो ! हमारी आशाओं के मूर्तिमान रूप हो !

अनु०— हाँ माधव, कालिदास निष्ठुर थे, लेकिन सब तो एक से नहीं होते। तुम कितने सुन्दर हो ! कितने सरल ! कितने सहृदय !

माधव—तुम्हारे स्नेह की वर्षा से मैं भींगा जा रहा हूँ। लेकिन, लेकिन इतनी वर्षा उचित नहीं है, उचित नहीं है अनुसूया !

अनु०—उचित नहीं है ! उचित क्या है ? अनुचित क्या है ? कुछ नहीं, कुछ नहीं !

प्रिय०—तुम कितने सरल हो माधव ! तुम निष्ठुर नहीं हो सकते। मैं जानती हूँ, तुम हमें मुक्त करने आये हो; कालिदास के शाप से मुक्त करने !

अनु०—मैं जानती हूँ, तुम हमें इस आश्रम से मुक्त करने आये हो। तुम हमें इस आश्रम से, इस बंदीगृह से बाहर ले चलोगे, हमारी आशा-आकांक्षाओं पर, हमारे स्वप्नों पर मधु की वर्षा करोगे।

माधव—बोलो अनुसूया, मैं क्या करूँ ? कुछ समझ नहीं पाता। प्रियंवदा, बोलो।

प्रिय०—तुम कवि हो, सहृदय हो, तुम स्वयं समझते हो, मैं क्या कहूँ ?

अनु०—हमें इस बंदीगृह से बाहर पहुँचा दो माधव ! यहाँ हमारी इच्छाएँ घुट-घुट कर मिटती जाती हैं।

प्रिय०—शीघ्रता करो माधव !

माधव—क्या करूँ मैं ?

अनु०—ले चलो, हमें यहाँ से बाहर ले चलो, राजनगर में !

प्रिय०—तुम सोच क्या रहे हो ? सोचने का समय नहीं !

माधव—तो, चलो, लेकिन कोई पुकार रहा है क्या ?

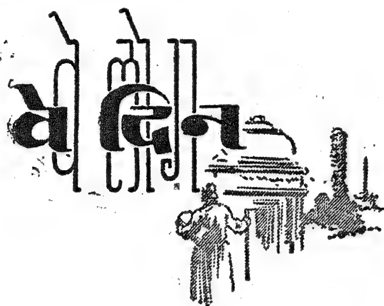
प्रिय०—शायद पिता कण्व हैं !

अनु०—क्या कह रहे हैं वे ?

बहुत से स्वर—(गूँजती हुई तेज आवाज में) ये क्वाँरी हैं, इनका नगर में जाना उचित नहीं है ! ये क्वाँरी हैं, इनका नगर में जाना उचित नहीं है ! ये क्वाँरी हैं, इनका नगर में जाना उचित नहीं है ! ये क्वाँरी हैं, इनका नगर में जाना उचित नहीं है !

(तीव्र वाद्य-संगीत से समाप्ति)

['नई धारा' के पुराने अंकों में इन संस्मरणों के चार अंश प्रकाशित हो चुके हैं। यह पाँचवाँ अंश है।
—सं०]



शरत्‌चन्द्र संबंधी मेरे संस्मरण

श्री इलाचन्द्र जोशी

[५]

जब शरत्‌चंद्र बरमा से कलकत्ते आये थे तब अपने साथ वह एक कुत्ता भी लाये थे। जब लाये थे तब वह बहुत छोटा था, ऐसा उन्होंने मुझे बताया था। पर बाद में वह बहुत बड़ा हो गया था और एक खूँखार—किंतु बहुत ही बदसूरत—भेड़िये की तरह दिखाई देता था। उसका नाम भी उन्होंने बहुत ही विचित्र रखा था : भेलू। मैं जब पहले दिन उनसे मिलने गया था तब वह मुझ पर इस बुरी तरह बिगड़ा था कि लगता था जैसे मुझे फाड़कर खा जाना चाहता हो। शरत्‌चंद्र ने जब बार-बार उसका नाम लेकर आवाज से और आँखों से उसे डाँटा तब वह कुछ शांत हुआ। उस दिन मैंने कुत्ते के संबंध में उनसे कुछ नहीं कहा। उसके बाद कई बार शरत्‌चंद्र के यहाँ मेरा आना-जाना हुआ। कुछ दिनों तक तो भेलू मुझ पर उसी भयंकर रूप से गुर्राता रहा, बाद में उसने गुर्राना छोड़ दिया, किंतु भूँकना फिर भी बन्द नहीं किया।

१६२३ के क्रिसमस सप्ताह में एक दिन जब मैं फिर शरत्‌चंद्र के यहाँ उपस्थित हुआ तब फिर भेलू भूँकने लगा। उस दिन वह कुछ अधिक शक्ति खर्च करके भूँक रहा था। शरत् को उस दिन भी उसे शांत करना पड़ा। जब हम दोनों भीतर इतमीनान से बैठ गये तब मैंने तनिक खीझ के-से स्वर में कहा : "ऐसा खूंखार कुत्ता अपने पास रखने में आपको क्या मजा आता है? आपके पास कुछ ऐसी विशेष संपत्ति भी नहीं है कि चोरों से अपनी रक्षा करने की आवश्यकता आपको आ पड़ी हो! इसकी

उपयोगिता तो मैं केवल इतनी ही देखता हूँ कि कोई भला आदमी यदि आपसे मिलना चाहे तो बेचारे को इस कुत्ते के कारण व्यर्थ में परेशान होना पड़ता है !"

मेरी खीझ देखकर शरत्चंद्र के मुँह पर एक दुष्टता-भरी मुस्कान फैल गयी। उस मुस्कान को बरबस दबाने का प्रयत्न करते हुए, उसमें तनिक गंभीरता का पुट मिलाते हुए उन्होंने कहा : "भले आदमियों को तो यह कुत्ता तनिक भी परेशान नहीं करता !"

मैं मन-ही-मन कुछ कट-सा गया। फिर भी बाहर से अपने को शांत बनाये रखने का कृत्रिम प्रयत्न करता हुआ बोला : "तो आपकी नजर में मैं कोई भला आदमी नहीं हूँ ! अर्थात् आप यह नहीं चाहते कि मैं अक्सर आपके पास आकर आपका अमूल्य समय नष्ट करूँ ! और संभवतः मेरे ही जैसे लोगों को दूर ही से टरकाने के उद्देश्य से ही आपने यह कुत्ता पाला है !"

"अरे, तुम तो सचमुच नाराज हो गये !" बड़े प्रेम से मुस्कुराते हुए शरत् ने कहा। "जरा शांत हो जाओ तो तुम मेरी बात का ठीक आशय समझ जाओगे।"

मैं प्रश्न-भरी दृष्टि से उनकी ओर देखता रहा। वह कहते गये : "तुमने जो अनुमान लगाया उसमें आधी सचाई है। वास्तव में इस कुत्ते से मेरा इतना काम तो सध ही जाता है कि बहुत से ऐसे लोगों का मेरे पास आना रुक जाता है जो मुझे किसी भी हालत में प्रिय नहीं लग सकते और जो सचमुच में मेरा समय नष्ट कर सकते हैं और व्यर्थ में मेरा दिमाग चाटने के सिवा और कोई कृपा मुझ पर नहीं कर सकते। पर तुम ऐसे लोगों में नहीं हो। भेलू भी इतना जानता है। वर्ना जो नकली रूप उसने तुम्हें दिखाया—जिसे देखकर तुम सचमुच डर गये—वह यदि उसका सच्चा रूप होता तो मेरे लाख मना करने पर भी वह तुम्हें न छोड़ता, और उसके न छोड़ने का अर्थ यह है कि तुम इस समय यहाँ मेरे पास न होते। तुम्हें सीधे अस्पताल पहुँचाना पड़ता और वहाँ भगवान ही तुम्हारा सहायक होता !"

मैं उनकी बात सुनकर आतंकित हो उठा। पर सच तो यह है कि अभी तक उनकी बात मेरी समझ में ठीक से आयी भी नहीं थी। मैंने कहा: "अगर यह उसका नकली रूप था तो असली रूप उसका क्या हो सकता है उसकी कल्पना करने में भी मुझे भय मालूम होता है !"

"हाँ, सच, यह उसका नकली रूप था," इस बार पूरी गंभीरता के साथ, बिना तनिक भी व्यंग के शरत् ने कहा, "अभी तक तुमने कोई कुत्ता पाला नहीं, इसीलिये तुम्हें मेरी बात सुनकर कुछ अविश्वास और कुछ आश्चर्य हो रहा है। कोई भी अच्छी जात का पालतू कुत्ता एक नकली मुखड़ा रखता है। बहुत बड़ी आवश्यकता—

बड़ा संकट—आने पर ही वह अपने उस मुखड़े को उतारता है। कुत्ता प्यार में भी क्रोध का भाव जताता हुआ भूँकता है, इस सत्य से केवल वे ही लोग परिचित होते हैं जो कुत्ते को प्यार कर चुके हैं और उसका प्यार पा चुके हैं। तुमसे भेलू नाराज नहीं था—नाराज हो नहीं सकता था। मैं जानता हूँ, मेरी इस बात पर विश्वास करने में तुम्हें अभी काफी कठिनाई महसूस होगी। पर है यह बात पक्की—प्रमाण-सिद्ध और अनुभव-सिद्ध। तुमसे वह केवल खेल रहा था। भला तुम जैसे दुबले-पतले, गोरे-उजले, निरीह नवयुवक से वह क्या नाराज होता! कुत्ता आदमी को आदमी से अधिक पहचानता है, मेरी यह बात तुम गाँठ बाँध लो। यह न समझना कि मैं जिस तरह अपनी कहानियों और उपन्यासों में मनुष्य के मन की बातें जानने और उनका ठीक-ठीक विश्लेषण करने का 'ढोंग रचता' हूँ (मेरे कुछ विरोधी आलोचकों ने इसी तरह की बात मेरे संबंध में कही है) उसी तरह मैं कुत्ते के मनोविज्ञान का ज्ञान बघार रहा हूँ। पर यदि मैं यह 'पोज' भी करूँ कि मैं कुत्ते के मन की बातें बता सकता हूँ तो ऐसा करने का मुझे अधिकार तो है ही। यह अधिकार मुझे इसलिये प्राप्त है कि मैं इतने वर्षों तक एक कुत्ते के निकटतम संसर्ग में रहा हूँ, उसे मैंने प्यार किया है और उसका प्यार पाया है। और प्यार ही किसी के मन के निगूढ़ रहस्यों को उघाड़ने की कुंजी है। मैं पागल प्यार की बात नहीं कहता, बल्कि उस सहज प्यार से मेरा आशय है जिसमें 'सह-अनुभूति' और 'सम-वेदना' वास्तविक—शाब्दिक—अर्थ में निहित रहती है। यह बात सदा के लिये जान लो कि कोरे वैज्ञानिक विवेचन से तुम किसी के मन के एक कण का भी यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकोगे, पूरे मन की थाह पाना तो बहुत दूर की बात रही। हाँ, तो मैं कह रहा था कि भेलू तुमसे नाराज नहीं था, वह केवल तुम्हें बना रहा था—मेरी इस बात पर विश्वास करो चाहे न करो। जिस ढंग से और जिस स्वर में वह तुम पर भूँक रहा था उसे देखते ही मेरे मन में तनिक भी संशय नहीं रह गया था कि वह तुम्हें बना रहा है। केवल आज ही नहीं, पहले भी तुम जब-जब आये तब-तब मैंने गौर किया है कि तुम्हें देखते ही तुम्हें बनाने की अदम्य प्रवृत्ति उसमें बरबस जग उठी है। और तुम जैसे निरीह लड़के को बनाने में क्या सुख है यह मैं स्वयं अपने अनुभव से जानता हूँ!" कहकर शरत्चंद्र सहसा खुलकर हँस पड़े। ऐसे हँसे कि उनकी आँखों की पलकें गीली हो आयीं। मैं मूर्खों की तरह उनकी ओर चुपचाप देखता ही रह गया। भीतर-ही-भीतर बुरी तरह झेंप रहा था और मेरी खीझ भी बढ़ती जाती थी। आज शरत्चंद्र एक विचित्र ही 'मूड' में थे, जिसे मैं ठीक से समझ नहीं पा रहा था। जब उनकी हँसी का दौर समाप्त हुआ तब वह आँखें पोंछते

हुए बोले : "माफ करना भाई, कहीं फिर नाराज न हो जाना। मेरी हँसी को ध्यान में न लाना (कहकर वह फिर हँसने हो जा रहे थे कि उन्होंने बरबस अपने को रोका— ऐसा मुझे लगा)। सचमुच तुम बहुत ही भोले और भले हो—'प्युअर गोल्ड' मैं कहूँगा।" और यह कहते हुए एक स्नेह-सजल भाव उनकी आँखों में आ गया। इस बार उनके मुख पर परिहास का लेशमात्र चिह्न भी नहीं था।

मेरी झेंप बढ़ती ही चली जा रही थी—यद्यपि सारी खीझ धुल गयी थी। उस अनावश्यक झेंप को झाड़ने के उद्देश्य से मैंने विषय को बदलना चाहा और मनोविज्ञान के संबंध में उनकी अधूरी बात का सूत्र पकड़ता हुआ बोला: "अभी आप कह रहे थे कि कोरे वैज्ञानिक विवेचन से किसी के मन के एक कण का भी यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। तब क्या आपकी राय में मनस्तत्त्व के क्षेत्र में उन नये खोजियों द्वारा उपलब्ध ज्ञान का कोई महत्त्व नहीं है, जो तथाकथित वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा अवचेतना के निगूढ़ रहस्यों का पता लगा रहे हैं?"

"जैसे?"

"जैसे फ्रायड को ही लीजिये, मनुष्य की अवचेतना और उसके चक्रजालों के संबंध में वह जिस निष्कर्ष पर पहुँचा है उसके बारे में आपका क्या मत है?"

"मैं अभी फ्रायड (शरत्चंद्र ने उस समय उसका उच्चारण 'फ्रूड' किया था) के सिद्धान्तों का अध्ययन ठीक से नहीं कर पाया हूँ" इस बार काफी गंभीर होकर शरत्चंद्र ने कहा, "अध्ययन करने की बड़ी इच्छा है, क्योंकि मैंने उसके नये सिद्धांतों की चर्चा कई पुस्तकों में पढ़ी है। पर अभी तक मुझे उसकी अपनी लिखी कोई पुस्तक—अंगरेजी अनुवाद के रूप में-प्राप्त नहीं हो सकी है। कालेज स्क्वायर में अपने परिचित पुस्तक-विक्रेताओं से मैंने पूछा था, उनका कहना है कि उनके यहाँ भी अभी तक फ्रायड की कोई पुस्तक नहीं आयी।[1]

मैंने उनसे कहा कि वे विशेष ऑर्डर देकर विलायत से मँगाएँ।

"तुम्हारे पास कोई किताब है क्या इस विषय की?"

मैंने कहा "किताबें तो मेरे पास इस विषय की बहुत-सी हैं, जिनमें फ्रायड के सिद्धांतों की केवल चर्चा ही नहीं की गयी है, बल्कि किसी हद तक उनपर विवेचन भी किया गया है। पर स्वयं फ्रायड की लिखी किताबें मेरे पास भी नहीं हैं—केवल एक को छोड़कर, जो फ्रेंच अनुवाद है और गुदड़ी में मुझे संयोग से मिल गयी थी।"

---

१ यह बात सन् १९२३ की है, इसकी याद फिर एक बार पाठकों को दिलाना चाहता हूँ।

"तुम क्या फ्रेंच समझ लेते हो ?" कुछ आश्चर्य से शरत् ने पूछा।

"अभी थोड़ा-सा अभ्यास किया है। फ्रायड को समझने के लिये बार-बार कोष की सहायता लेनी पड़ती है। पर इस बहाने मेरा फ्रेंच ज्ञान कुछ-न-कुछ बढ़ता ही जाता है।"

"अच्छा है। तुम्हें यह अच्छी सुविधा मिल गयी है। कुछ पुस्तकें मेरे पास भी हैं, जिनमें फ्रायड के सिद्धांतों की चर्चा की गयी है। पर उनसे विशेष सहायता नहीं मिलती। तुम अपनी कुछ पुस्तकें मुझे देते जाना, मैं अभी हेवलाक एलिस तक ही पहुँचा हूँ। सेक्स संबंधी बहुत-सी नयी बातें उसने बतायी हैं—कुछ ऐसे नये सिद्धांत खोज निकाले हैं जिन पर आज तक प्रकाश नहीं पड़ा था। मैंने सुना है कि फ्रायड पर भी हेवलाक एलिस का प्रभाव पड़ा है।"

"हाँ, स्वयं फ्रायड ने यह बात स्वीकार की है।"

"पर सच पूछो तो मुझे तो यह सारा चक्कर बड़ा गंदा लगता है। ये नये सेक्स-शास्त्रीगण केवल कीचड़ और गंदगी को उलीच-उलीचकर कौन-सा नया ज्ञान संसार को दे देंगे !"

"यह ठीक है," मैंने कुछ और अधिक गहराई में सोचने की-सी मुद्रा में कहा। "गंदगी में केवल गंदगी के लिये रस लेने के समान विकृति कोई दूसरी नहीं हो सकती। पर दूसरी दृष्टि से देखा जाय तो गंदगी जीवन के स्वस्थ बीजों के लिये पोषक खाद भी सिद्ध हो सकती है।"

"पर ऐसा भी तो संभव है," जैसे किसी अज्ञान आशंका से प्रेरित होकर शरत्चंद्र ने कहा, "कि खाद इतनी अधिक जमा हो जाय कि बीज को ही दबा बैठे !"

"हो सकता है। यह स्थिति बहुत ही खतरनाक सिद्ध होगी।" कहकर मैं क्षण-भर के लिये मौन रहा। उसके बाद सहसा एक प्रश्न कर बैठा :

"क्या भावी साहित्य फ्रोयड के सिद्धांतों से किसी कदर प्रभावित होगा ? आपका क्या ख्याल है ?"

"मेरा तो ऐसा ख्याल है कि पाश्चात्य साहित्य पर उसका प्रभाव किसी हद तक पड़ भी चुका है।"

"ऐसे साहित्य से आप क्या किसी कल्याण की आशा नहीं करते ?"

"मैं तुम्हें पहले ही बता चुका हूँ कि अभी तक मैं फ्रायड के सिद्धांतों का अध्ययन ही ठीक से नहीं कर पाया हूँ। पर जो आभास उनके संबंध में मेरी अंतः प्रज्ञा को मिला

है उसमें कुछ ऐसा लगता है कि जीवन की समस्याओं को सुलझाने में कोई बड़ी सहायता उनसे नहीं मिलेगी।"

"आपको तो आलोचकों ने मनस्तत्त्व-संबंधी सिद्धांतों का विशेषज्ञ बताया है। आपके उपन्यासों की एक बहुत बड़ी विशेषता यह बतायी जाती है कि मनोवैज्ञानिक सत्यों का जैसा उद्घाटन आपने उनमें किया है वैसा आज तक के किसी दूसरे भारतीय उपन्यासकार ने नहीं किया है। तब यदि फ्रायड मनोविज्ञान को कुछ कदम और आगे बढ़ा ले जाता है तो आप ऐसा क्यों नहीं सोचते कि उसके अध्ययन से आपको मानव-जीवन के विवेचन और विश्लेषण में और अधिक सुविधा प्राप्त होगी?"

शरत्चंद्र के मुख पर अविश्वास-भरी मुसकान झलक कर तत्काल विलीन भी हो गयी। "तुम क्या सचमुच यह समझते हो," उन्होंने दया-भरी दृष्टि से मेरी ओर देखते हुए कहा, "कि मैंने अपने उपन्यासों में मनुष्य के मन के जिन रहस्यों का थोड़ा-बहुत उद्घाटन किया है वह मनोविज्ञान-संबंधी पुस्तकों के सहारे किया है?"

"न, मैं किसी भी हालत में, इस तरह की बात नहीं सोच सकता। मैं आप ही के कथनानुसार 'भोला' (अर्थात् मूर्ख, कहते हुए मैं दुष्टतापूर्वक मुस्कराया) अवश्य हूँ, पर इस हद तक नहीं कि इतनी मोटी बात भी न समझ सकूँ कि कोई भी कवि या कथाकार जीवन के रहस्यों का उद्घाटन किसी 'गाइड बुक' की सहायता से नहीं, बल्कि अपने अन्तर्दृष्टि से प्रेरित होकर करता है।"

"तब यह जानते हुए भी, तुम ऐसा क्यों सोचते हो कि फ्रायड या और किसी मनोविज्ञानवेत्ता के सिद्धांतों के अध्ययन से मुझे या किसी दूसरे कथाकार को मानव-जीवन के विवेचन और विश्लेषण में अधिक सुविधा प्राप्त हो सकेगी?"

"आपके प्रश्न के उत्तर में पहली बात मैं यह कहना चाहता हूँ कि मैं स्वयं ऐसा सोचता नहीं; मैंने केवल एक संभावना की ओर संकेत किया था और उसके संबंध में आपका क्या अनुमान है यह जानना चाहा था। अभी तो यही प्रमाणित नहीं हो पाया है कि फ्रायड ने प्रचलित मनोविज्ञान को कुछ कदम आगे बढ़ाया है या पीछे हटाया है। तर्क के लिये यह मान लिया जाय कि वह कुछ ऐसे मनोवैज्ञानिक सत्यों का आविष्कार कर चुका है या कर रहा है जो आज तक प्रकाश में नहीं आये थे। तब उस हालत में क्या वह संभव नहीं है कि नये युग के कथाकारों को जीवन के रहस्यों पर प्रकाश डालने, मन की गुत्थियों को सुलझाने के उद्देश्य से एक नया दृष्टिकोण, एक नया 'एप्रोच' प्राप्त हो जाय? अपने पात्रों की भावनाओं और मानसिक क्रिया-प्रति-

क्रिया का विश्लेषण तो प्रत्येक प्रतिभाशाली कवि, नाटककार या कथाकार अपनी अन्तर्दृष्टि और अन्तर्ज्ञान के प्रकाश में करता ही रहता है। बहुत प्राचीन काल से ऐसा होता आया है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कोई आज ही युग की चीज नहीं है। शेक्सपीयर ने अपने पात्रों का जैसा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है वैसा दूसरा कोई क्या करेगा? पर प्रश्न है दृष्टिकोण, 'पर्सपेक्शन' और 'एप्रोच' का। मानव-मन के रहस्यों का बहुत बड़ा ज्ञाता होने पर भी शेक्सपीयर ने जीवन को समझने के लिये जो दृष्टिकोण या 'एप्रोच' हमारे सामने रखा यदि उसी को हम जीवन का चरम सत्य मान लें तो जीवन विध्वंस, विनाश, विद्वेष, भय, घृणा के तत्वों के एक विराट स्तूप के अतिरिक्त और कुछ नहीं मालूम होगा, जिसके नीचे प्रेम और शांति के अति स्वल्प परमाणु अत्यंत उपेक्षित रूप में दबे या बिखरे पड़े हैं, जिनके उद्धार की कोई संभावना नहीं है। पर आज यह दृष्टिकोण न आपका है, न कोई दूसरा जीवन-द्रष्टा इस तरह की बात सोच सकता है। किंतु साथ ही इस तथ्य को भी आप अस्वीकार नहीं कर सकते—आपने कभी किया नहीं—कि प्रेम, शांति और कल्याण के बीज विद्वेष, घृणा, भय और विनाश के प्रकट या सुप्त तत्वों के भीतर बुरी तरह दबे या छिपे पड़े हैं। प्राचीन काल से लेकर आज तक सभी भारतीय ऋषियों, कवियों और कलाकारों का यह विश्वास रहा है कि मानवता के भीतर निहित प्रेम के तत्वों का उद्धार एक-न-एक दिन अवश्य होकर रहेगा और जीवन की प्रगति का वास्तविक लक्ष्य ही यही है। पर वह विश्वास अभी तक कार्यरूप में परिणत नहीं हो पाया है। गांधी जी के प्रेम और अहिंसा संबंधी प्रयोगों का कोई प्रभाव उन 'महाशक्तियों' पर नहीं पड़ रहा है जिसकी रक्त की प्यास प्रथम महायुद्ध की विश्वव्यापी दानव-लीला के बाद भी नहीं बुझी है और जो निःशस्त्रीकरण के प्रस्ताव पर युद्ध की समाप्ति के बाद से बहस करते रहने पर भी अपनी सैनिक शक्ति निरंतर बढ़ाते चले जा रहे हैं। उनका श्मशान वैराग्य समाप्त हो चुका है। स्वयं हमारे ही देश में गांधी जी के अहिंसात्मक असहयोग के उत्तर में ब्रिटिश राजसत्ता की बर्बरता घटने के बजाय और अधिक प्रचंड होती चली जा रहा है। यह तो हुई सामूहिक प्रवृत्तियों की बात। व्यक्तिगत जीवन में मानव-मन की नीच प्रवृत्तियाँ परिष्कृत होने के बजाय निरंतर किस तरह अधिकाधिक वेग से उभरती चली जा रही हैं, इस तथ्य से आप स्वयं अपने व्यापक अनुभवों के कारण जिस हद तक परिचित हैं उस हद तक शायद ही कोई दूसरा व्यक्ति परिचित हो। उन नीच प्रवृत्तियों को दूर करने का उपदेश आपने भी दिया है, दूसरे लेखक या कवि भी बराबर देते चले आये हैं। पर क्या आप समझते हैं कि उपदेशों का कोई प्रभाव मानवता पर पड़ा है

या पड़ रहा है ? मुझे तो इस तरह के कोई लक्षण नहीं दिखायी देते। इसीलिये आज अत्यंत गंभीर रूप से यह सोचने की आवश्यकता आ पड़ी है कि हमारे मनीषियों की विचार-धारा में, कला में या कलात्मक 'एप्रोच' में त्रुटि कहाँ पर रह गयी है। अपने बहुत ही छोटे जीवन के अनुभवों के फलस्वरूप मैंने इस विषय में जो कुछ सोचा है उससे मुझे लगता है जब तक तथाकथित 'सभ्य' मानव-जीवन की पिटी-पिटायी परंपरा के मूल में भीतर से और बाहर से आघात न किया जाय तब तक मानवता किसी वास्तविक और स्थायी परिवर्तन की ओर एक भी कदम नहीं उठा पायेगी। इस मूलगत आघात के दो रूप हमारे सामने आये हैं, जो अभी प्रारंभिक अवस्था में हैं और जिनकी दीर्घ परीक्षा अपेक्षित है....."

मैं अकस्मात् इस कदर मुखर हो उठा था कि मुझे स्वयं आश्चर्य हो रहा था। अपनी बहुत दिनों से सोची हुई बात का बाँध टूट जाने पर मैं उसके प्रवाह में इस तरह बह गया था कि किस व्यक्ति के आगे किस ढंग से और किस स्वर में बात कर रहा हूँ, यह एकदम भूल ही गया। अपनी दांभिकता-भरी बातों के लिये शरत्चंद्र से इसके पहले दो-तीन बार मीठे व्यंग-भरी चुटकियाँ भी मैं पा चुका था, पर उनकी भी कोई याद उस समय मुझे न रही। उस दिन मैंने उनको जो कुछ कहा उसका एक-एक शब्द अग्नि के-से अक्षरों में अभी तक मेरे भीतर खुदा है, और जिस जोश-भरी मुद्रा में ये सब बातें मैंने उनसे कहीं उसकी याद करके आज लज्जित होने के साथ ही पुलकित भी हो उठता हूँ।'

शरत् अत्यन्त गम्भीर और मौन भाव से, एकांत ध्यानपूर्वक मेरे छोटे मुँह से निकली हुई बड़ी बातें सुन रहे थे। उनसे अच्छा श्रोता मुझे जीवन में फिर शायद ही कोई दूसरा मिला हो। जहाँ तक मुझे याद है, उस दिन किसी कारण से उनका हुक्का ठंडा पड़ा हुआ था और वह बार-बार 'इम्पीरियल' सिगरेट के टिन से एक-एक सिगरेट निकालते हुए 'चेन स्मोकिंग' करते चले जा रहे थे।

जब मैंने दृढ़ता के साथ अंतिम बात कही और क्षण-भर के लिये दम लेने के इरादे से रुका तब उनका मुँह खुला :

"वे दो रूप क्या हैं, यह जानने के लिये मैं उत्सुक हूँ।" पता नहीं क्यों, मुझे लगा जैसे उनके प्रश्न के भीतर व्यंग का एक अत्यंत अस्पष्ट पुट निहित है। आज सोचता हूँ कि संभवतः मेरा ऐसा सोचना भ्रम था।

मैंने कहा : "एक रूप तो है मार्क्स प्रणोदित लेनिनवाद, जो संसार की शताब्दियों से प्रचलित अस्त-व्यस्त, असामंजस्यपूर्ण और स्वतःविरोधी व्यवस्थाओं पर बाहर से

निर्मम हथौड़े चलाता हुआ, अपने मूलतः नये आदर्शों और सिद्धांतों को व्यावहारिक रूप देता हुआ, एक विश्वव्यापी सम-व्यवस्था की स्थापना की ओर सचेष्ट है। दूसरा रूप है फ्रायड का नया मनोविश्लेषण-विज्ञान, जो भीतर से युग-युगव्यापी बूर्जवा नैतिक आदर्शों की जमीन पर धन-घन फावड़े चलाता हुआ, उस पर एकदम नये मानसिक बीजों का रोपण करता हुआ, एकदम नयी खाद से उन बीजों का पोषण करने की ओर सचेष्ट है। इस प्रकार बाहर और भीतर से दो मूलतः नयी चक्र-क्रियाएँ प्रगति के संबंध में एक नया ही दृष्टिकोण, एक नया ही मोड़ मानवता को देने का दावा भर रही हैं। अभी इन क्रांतिकारी प्रयोगों की अग्नि-परीक्षा नहीं हुई। मेरा ऐसा विश्वास है कि अपनी अंतिम अग्नि-परीक्षा देने के पूर्व, नये-नये अनुभव और नये-नये विरोधों और अवरोधों के संघर्ष में आने के फलस्वरूप, दोनों को नये नये रंग बदलने होंगे; प्रतिवर्ष जो फसल तैयार होगी उसमें काट-छाँट करके नये-नये विकास-तत्त्व जोड़ने होंगे। और इस प्रकार कटते-छँटते, बदलते और बढ़ते हुए दोनों का एक व्यापक, विकसित और सम्मिलित रूप सामने आयेगा। उस नवीन विकसित रूप में वे स्वस्थ और कल्याणकारी तत्त्व निश्चय ही निहित रहेंगे जिन्हें मानवता ने युगों की साधना द्वारा प्राप्त किया है! पर जिन झूठे, अकल्याणकारी और विष-रस-भरे नैतिक और मायाविक सिद्धांतों ने झाड़ और झंखाड़ की तरह मनुष्य के प्रगति पथ को युगों से छा रखा है वे सब साफ हो जायेंगे। और तब समग्र मानवता इधर-उधर भटकना छोड़कर, एक निश्चित, मांगलिक महामार्ग से होकर सामूहिक रूप से उस महालक्ष्य की ओर बढ़ सकेगी जहाँ इस पृथ्वी का युग-युगव्यापी नारकीय जीवन सुन्दर स्वर्ग में परिणत हो पायेगा। मैं जानता हूँ, अभी यह मेरा एक स्वप्न-मात्र है—एक अनुभूतिशील और भावुक तरुण-हृदय में उत्पन्न होनेवाला कविजनोचित सुन्दर, मनोरम, और सुनहला रोमांटिक स्वप्न। पर मेरे अंतर्मन से यह विश्वास किसी तरह भी हटना नहीं चाहता कि यह स्वप्न एक दिन निश्चय ही सफल होकर रहेगा—इसे सफल होना ही होगा। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मेरे जीवन की सारी साधना इसी सुनहरे लक्ष्य को सामने रखते हुए अग्रसर होती रहेगी। अपनी सीमित शक्तियों के अनुसार मैं विश्व के सूक्ष्म सांस्कृतिक तत्त्वों के विकास की इसी महायोजना में हाथ बटाने का प्रयत्न करता रहूँगा। अभी रोमां रोलां से संबंधित मेरा एक लेख हिंदी के एक प्रमुख पत्र में छपा है। उसमें भी मैंने अपने इसी विश्वास पर जोर दिया है।"

मेरा चेहरा अति-प्राकृत उल्लास से निश्चय ही तमतमा उठा होगा। मेरी मुखरता जब शांत हुई तब शरत्चंद्र का गंभीर रूप फिर एक मीठी मुसकान में परिणत हो गया।

अत्यन्त मृदु और स्नेह-सिक्त स्वर में वह धीरे से बोले : "तुम सचमुच बहुत ही भावुक हो। मैं भी किसी जमाने में सामूहिक जीवन की प्रगति के संबंध में कुछ विचित्र स्वप्न देखा करता था। उनका रूप तुम्हारे स्वप्न से भिन्न होता था, संदेह नहीं, पर थे वे भी इसी तरह की विचित्र भावुकता से रँगे हुए। पर यथार्थ जीवन के कठोर सामाजिक अनुभवों के कारण उन पर जैसे पाला पड़ गया है और वे मठर गये हैं। जो भी हो, मैं केवल एक बात का स्पष्टीकरण तुमसे चाहता हूँ। क्या तुम सचमुच फ्रायड के सिद्धांतों को इतना महत्त्व देते हो? क्या तुम सचमुच उन्हें इस कदर क्रांतिकारी मानते हो कि उनके द्वारा विश्व-चिंतना-धारा में इतने महान परिवर्तन की आशा की जा सके?"

उनके इस प्रश्न से मेरा सारा जोश एकदम ठंडा पड़ गया। मुझे लगा कि मैं अपनी बात उन्हें ठीक से समझा नहीं पाया और न समझा पाऊँगा। फिर भी स्पष्टीकरण का पूरा प्रयत्न करते हुए मैंने कहा : "मैं फ्रायड के सिद्धांतों को विशेष महत्त्व नहीं देता। जैसा कि मैं बता चुका हूँ, अभी उनका पूरा अध्ययन कर सकने की स्थिति में भी मैं नहीं हूँ। और जितना कुछ आभास उनके संबंध में मुझे मिला है उससे मैं पूर्णतया सहमत भी नहीं हूँ। मानव प्रकृति के भीतर निहित 'गंदगी' का मथन करके फ्रायड किसी बड़े सत्य को उछाल कर ऊपर रख देगा, यह विश्वास भी मुझे नहीं है। पर जो एक नया दृष्टिकोण, जो नया 'एप्रोच' उसने व्यक्तिगत और सामूहिक मानव-मन के परिष्करण, मानवीय संस्कृति और मानव जीवन को समझने के लिये हम लोगों के आगे रखा है उसके महत्त्व को अस्वीकार करना एक बहुत बड़े सत्य के प्रति आँख मूँद लेना है। उस नये दृष्टिकोण से लाभ उठाकर, जो बीज उसने बिखेरे हैं उन्हें अधिक उन्नत, सुसंस्कृत और सुपरिष्कृत बनाकर उनके द्वारा पूर्णतः नये सांस्कृतिक तत्त्वों की सृष्टि की जा सकती है, जो जीवन को अधिक मंगलमय बनाने में सफल हो सकेंगे। उस नव-जाग्रत सांस्कृतिक चेतना का जो विकास होगा उसके फलस्वरूप फ्रायडियन बीज या तो एकदम लुप्त हो जायेंगे या केवल खाद-रूप में शेष रह जायेंगे।"

"पर तुम चाहे जो कहो, मैं तुम्हें फिर एक बार सावधान कर देना चाहता हूँ और यह बता देना चाहता हूँ कि यह फ्रायडियन पथ मुझे बहुत ही संकटपूर्ण, कंटकाकीर्ण, भयंकर दलदलों और गहन गह्वरों से भरा हुआ लगता है।"

"ठीक है," मैंने तनिक भी हतोत्साह न होते हुए कहा, "मैं स्वयं भी ऐसा ही मानता हूँ, पर रवीन्द्रनाथ के शब्दों में यह कहना चाहता हूँ कि 'विपद आछे जानि

विपद आछे, ताई जेने तो वच्चे पराण नाचे !'* यदि हमलोग नयी पीढ़ी के लेखकगण फ्रायड द्वारा लगाये गये काँटों में कलम करके उन्हें सुन्दर फूलों में न बदल सके, भयंकर दलदलों को सुखाकर उन्हें हरी-भरी और मानव-जीवन के सुन्दर विकास योग्य भूमि में परिणत न कर सके और गहन गह्वरों को मिट्टी से पूर कर उन्हें महास्वप्नों की सफलता की ऊँची पहाड़ी चोटियों का रूप न दे सके तो हमारे उस निकम्मेपन से तो यही अच्छा होगा कि हम उस महावन में काँटों से छिदकर लहूलुहान हो जायँ, दलदलों में फँसकर अतल में धँस जायँ और गहन गह्वरों में एकदम विलीन हो जायँ !"

"वेश ! वेश ! भेरी गुड !" शरत्चंद्र ने मेरी पीठ ठोंकते हुए कहा, "तुम उतने निरीह और भोले नहीं हो, जितना कि मैं समझे बैठा था ! तुम एक दिन बहुत दूर पहुँचोगे, यह भविष्यवाणी मैं करता हूँ, फिर चाहे उस दूरी पर पहुँचकर तुम्हें रबिन्सन क्रूसो की तरह अकेले ही क्यों न रहना पड़े !"

"ऐसा अभिशाप न दीजिये !" मैंने हँसते हुए कहा। "यदि मैं आनेवाले युग के साहित्य के कर्णधारों के साथ अपने विजन (vision) की चोटी तक न पहुँचा तो अपनी सारी साधना को ही व्यर्थ समझूँगा !"

"ठीक है, ठीक है ! यू विल गो भेरी फार ! भेरी फार !" जैसे अपने-आप से ही बात करते हुए शरत्चंद्र ने अनमने भाव से कहा और टिन से एक नयी सिगरेट निकालकर जलाने लगे।

काफी देर हो चुकी थी। मैं उठ खड़ा हुआ और हाथ जोड़ता हुआ बोला : "इस समय आज्ञा दीजिये। यदि मैंने अपनी ऊटपटाँग बातों से आपको कष्ट पहुँचाया हो या आपका समय नष्ट किया हो तो उसके लिये आंतरिक क्षमा चाहता हूँ !"

"ना हे ना ! ऐसी कोई बात नहीं है। अपनी भावुकता को अब इस हद तक न बढ़ाओ कि अपने व्यर्थ के संदेह मुझ पर आरोपित करो ! हाँ, एक बात मैं भूलने ही जा रहा था। मनोविज्ञान संबंधी जिन पुस्तकों की बात तुम बता रहे थे उन्हें जल्दी ही एक दिन मुझे देते जाना !"

"अवश्य !" कहकर मैंने फिर एक बार हाथ जोड़े और चल दिया।



अपनी-अपनी गाँठ

राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह

[२]

"यह लो, ऐसी भी क्या पड़ी है, चले कहाँ इस तूफान में?"

मंजु के चेहरे पर एक रंग आ रहा है, एक रंग जा रहा है। आसमान पर बादल छाये हैं। हवा तेज-तुन्द है आज। लगता है, तूफान का जोर है। मगर पानी पड़े या पत्थर, अपनी ड्यूटी की पाबन्दी जो बड़ी चीज ठहरी!

नन्दी खड़े हैं अपने बँगले की पौर पर। हाथ में बैग है, आँख है आसमान की तान-तेवर पर।

"तुम भी बड़ी वह हो, हम अकेले थोड़े ही जा रहे हैं! मिस्टर मार्टिन भी तो साथ हैं!"

"मैं पूछती हूँ, दो-चार घंटे बाद ही जाने में तुम्हारा जाता ही क्या है?"

"क्या नहीं जाता? तुम क्या जानो! हमारा इतने-दिनों का किया-कराया सब मिटने पर आया है। पहाड़ों में वह भयंकर 'लैंडस्लाइड' है कि कहीं हमारी नई सड़कें

भी टूट कर गिर गई तो लो, गए हम ! अब तो चाहे कुछ हो, मोर्चा लेकर रहेंगे हम !"

मंजु का चेहरा उतर गया। बोली—"क्या बताऊँ, रात एक ऐसा सपना देखा कि जान में जान नहीं।"

"यह खूब ! अपनी आशंका ने जरा-सी एड़ लगा दी और कल्पना लगी हवा पर उड़ने ! लीजिये, रात की अंधियारी में उतर आई सपना बन नींद की छाती पर मूँग दलने !"

तभी मार्टिन साहब का चपरासी दौड़ा आया कि साहब तैयार हैं, देर नहीं। फिर क्या, चल पड़े नन्दी, दायें देखा न बायें। मंजु बेचारी किवाड़ के पल्ले थाम खड़ी की खड़ी रह गई—घुलती रही अन्दर-ही-अन्दर !

× × ×

क्या जाने क्या लगाव है कि आदमी जिस बात के लिये भीतर-ही-भीतर डरा करता है वह आसमान फाड़ बरस ही जाता है सर पर एक दिन ! तो यह दिन भी आना रहा, आकर ही रहा आखिर। मंजु का डर उसके सर पर आ ही धमका पाँच दिन बाद।

कई दिन के लगातार आँधी-पानी के बाद आसमान साफ हो रहा है आज। बादल छँट चले। सूरज के चेहरे से घूँघट सरक पड़ा जैसे। लगा, दिन के चार बजे होंगे। मंजु के बँगले पर आकर हमने बन्द किवाड़ पर दस्तक जो दी तो अन्दर से आवाज आई—अभी आई !

तभी किसी के तेज कदमों की चाँप पर चौंक कर हम मुड़े तो क्या देखते हैं कि मिसेज मार्टिन बढ़ी आ रही हैं सामने।

"सुना तुमने ? बड़ा गजब हो गया, गजब !"

"क्यों, बात क्या है, कहिये न ?"

"वही लैंडस्लाइड—दो-चार हाथ नहीं, दो-चार फर्लांग ! कितनों के सर बीत गये। मोटर भी खड्ड में जा गिरी…साथ-साथ दोनों ही…मरे या अभी क्या कहें…"

हमारे तो होश हवा हो गये ! पहाड़ों में हम आते हैं वहाँ के हवा-पानी से जिन्दगी पाने। क्या पता, उसी हवा-पानी से आसमान भी यों फट आता है बेतहाशा और सरक जाती है पाँव-तले की धरती भी कि कहीं पनाह नहीं ! पल में कुछ, पल में कुछ !

मंजु का चेहरा उड़ गया। अब गिरी, तब गिरी। बस, आँखें खड़ी हैं सामने

दीवाल पर टँगी माँ काली की प्रतिमा पर। काश वह पाषाणी भी प्राणमयी हो पाती!

"तो आप जा कहाँ रही हैं इस तेजी से?"

"चलो, अस्पताल चलो। वहीं आ रहे हैं तुम्हारे नन्दी भी। सुबह ही गोरे तिलंगों का एक काफिला जा चुका है उन्हें ढोकर लाने। देखो, क्या देखना है आज!"

आते-आते आ गए दोनों। सिपाहियों के कंधों पर आए। होश नहीं। लहू में लथपथ। आते ही ले लिए गए अस्पताल में। मिसेज मार्टिन तो साथ-साथ अन्दर आईं, देखती सुनती रहीं, हाथ भी बँटाती गईं अपने ढंग से। दौड़कर अस्पताल से बड़े सर्जेंट को भी बुला लाईं। जाने क्या बात हुई, खड़े-खड़े वहीं कुछ लिख कर चपरासी को दौड़ा दिया तार-घर।

मंजु को तो साँप सूँघ गया जैसे। नाहक लाने गए उसे हम यहाँ। बस, खड़ी की खड़ी रही सर्जिकल वार्ड की पौर पर।

पल पर पल गुजर रहे हैं। क्या करें, क्या नहीं— इसी ससपंज में हैं हम। तभी अन्दर से मिसेज मार्टिन अनमनी-सी निकल आईं कि अब उठो, चलो, यहाँ सर फोड़ना बेकार है। जो करना है, कर दिया गया। जो होना है, होगा।

दस कदम भी न गए होंगे कि मिसेज मार्टिन ने मुड़कर कहा—"अच्छा होता कि तार देकर उसके घर से किसी को बुला लेते—बड़ी टूट गई है मंजु···"

"तो आपने भी किसी को तार देकर···"

"नहीं-नहीं, हमने तो नैनीताल के बड़े सर्जेंट को तार दिया है। वह आ पाते तो कुछ उम्मीद बँधती। मेरे शौहर के सर से तो लहू की धार बनी की बनी है। क्या जाने····· "

वह आगे बढ़ गईं। मंजु बैठ रही वहीं कुर्सी पर—हिलने को तैयार नहीं। समझा कर रह गए हम। आखिर उसे वहीं छोड़ चल पड़े तार-घर। उसके घर पर तार दे देना जरूरी ठहरा। उससे पूछना ही क्या, वह तो अपने आप में नहीं।

तार-घर से लौटते सामने क्लब की चहल-पहल पर नजर गई। देखा, वही रोजमर्रे का तमाशा है, वही जलवा। सब तो सब, मिसेज मार्टिन भी वहीं बैठ ताश खेल रही हैं! सामने मेज पर कॉकटेल का छलकता जाम भी है!

तभी देखा, अस्पताल की ओर से मंजु भी इधर ही बढ़ आई।

"तुम्हीं को ढूँढ़ने चली हैं। आज रात वहीं रहना, बच्चे जो अकेले ठहरे। हम तो यहाँ से हिलने से रहीं।"

"तुम भी अजीब हो। एक नजर इधर तो दो। वह···वह रहीं मिसेज मार्टिन !···
···जानती हो न, मार्टिन की चोट तो कहीं संगीन ठहरी। और, एक तुम हो, क्या कहें हम, अपने ही से पूछो·····"

मिसेज मार्टिन की नजर मंजु पर गई नहीं कि वह उठकर सामने आ गईं। हँस कर बोलीं—"लाओ, उसे भी दो घूँट पिला दें—She needs even a stronger tonic than Cocktail !"

"जी नहीं, उसका तो बस एक संबल है—वही वह, भला रघुवर की शरण न लेकर वह बोतल की शरण लेगी ?"

"तुम नहीं मानते, न मानो। मगर वह बेखुदी तो बोतल की शरन में ही है। वही उसको उससे छुड़ा पाएगी इस पल !"

अब कोई क्या कहे ? ऐसी छुच्छुम वह होती तो कभी की डुबो चुकी होती अपनी सारी लगी-लिपटी इसी प्याले के पनाले में !

मार्टिन की जान के उबार के लिये गोरे अफसरों ने अपनी ओर से कुछ उठा न रखा। मगर दो दिन तक लहू-पसीना एक कर भी मौत से मोरचा ले न पाये। उस दिन अस्पताल जाकर सुना कि पंछी उड़ गया—पिंजड़ा सूना पड़ा है। हाँ, नन्दी अभी साँस लिए जा रहे हैं, न आँख खोल पाते हैं, न बोल पाते हैं। मंजु वहीं बैठी तलवे सहलाए जा रही है—क्या दिन, क्या रात।

आज पहली बार मिसेज मार्टिन की आँखों में नमी-सी नजर आई। आखिर तो नारी—गोरी, विलायती ही सही। उसका चेहरा ही गवाह है कि क्या गुजर रहा है उस नकाब की सजधज के अन्दर। यह नहीं कि वह टूट कर गिर गई है। खड़ी है अपने पैरों पर, सब कुछ देख-सुन रही है, किए जा रही है अपना फर्ज भी।

दो-चार दिन तो कहीं जा न पाई वह। क्लब की चहलपहल में भी शामिल न हो सकी। होती भी कैसे ?

हाँ, जो हुआ—हुआ, उसे लेकर अपनी सारी सुधबुध की तिलांजलि तो देने से रही वह—टूट कर गिरना तो दूर। रोते-कलपते तो किसी ने उसे देखा ही नहीं। बस, बाँह पर एक काली पट्टी बाँध रखी। छलक आते रह-रह कर आँखों में आँसू।

लीजिए, अंग्रेज अफसरों का ताँता लगा है उसकी पौर पर। कितने आ रहे हैं, जा रहे हैं। दो पल खड़े-खड़े अपनी समवेदना जता दी—फर्ज अदा हो गया !

किसी आन्तरिकता का तो दस्तूर ही नहीं जैसे। यह बाहरी सफाई और पुताई तो

कोई इनसे सीखे ! विलायती हवा पानी की टकसाली शिष्टता तो अधिकतर जाहिरदारी ही ठहरी।

चौथे दिन नन्दी भी चल बसे। रह गई मंजु प्रणतपाल के चरणों पर सर फोड़ती। यह तो कहिये कि दो दिन पहले ही दो सगे भाई आ गये, बूढ़ी सास भी—नहीं तो कैसे क्या होता राम जाने! जो हो, हमें तो लगा कि उसकी जिन्दगी की दीप-शिखा ही बुझ गई जैसे। उसे तो पता तक न रहा कि कब किसने उसके हाथों की चूड़ियाँ तोड़ दीं, पैर से महावर, सर से सिन्दूर धो डाला और कमर से रेशमी साड़ी खींच एक सादा सा टुकड़ा बाँध दिया ज्यों-त्यों! गनीमत है कि गोद में दो बच्चे हैं। वह न होते तो शायद यह जिन्दगी भी मात हो जाती! दूसरे ही दिन उसे साथ ढोये चल दिये कलकत्ते।

मिसेज मार्टिन तो पाँच सात दिन के अन्दर ही अपनी रोजमर्रे की जिन्दगी के दर पर लौट आईं। विधवा और सधवा में कोई भेद तो रहा नहीं। वही खान-पान, वही साज-सिंगार, वही शाम का हँसी-खेल। वह बाँह का काला फीता भी कुछ ही दिनों में न जाने कहाँ उड़ गया!

कोई बीस दिन बाद। कल सुबह ही घर लौट रहे हैं हम। पहाड़ों की सैर हो चुकी। सोचा, जाने के पहले मिसेज मार्टिन से मिल लें—फिर वह कहाँ और हम कहाँ!

शाम होने पर आई है। आसमान हँस रहा है। हवा झूम रही है। क्या सुहावना समाँ है आज! बादलों का जत्था जाने कहाँ गुम हो गया है। आज तो जो है वह सामने के टीले पर खड़े होकर आँख उड़ेल पिये जा रहा है बर्फीली चोटियों के इर्द-गिर्द छलकता हुआ गोधूलि का गुलेनार जाम! देखा, मिसेज मार्टिन भी वहीं खड़ी इस रस-पान में विभोर हैं जैसे। आँखें चार होते ही हमारी ओर मुड़ कर एक अजब अदा से पूछ बैठीं—"कहो, कैसी लग रही हूँ आज मैं!"

हम तो दंग! यह क्या प्रश्न है—क्या रहस्य! कभी जो ऐसी गहरी छनती रही हो हम से! आज क्या है कि यों उबल पड़ीं वह? नहीं-नहीं, यह प्रश्न तो हमारी आँखों से नहीं, अपनी ही आँखों से होना चाहिये! पर, हमने हँस कर कहा—'हमारी आँखों से पूछिये यह, जबान तो उसे अदा करने से रही!' और, बात भी थी, आज तो वह सजधज, वह रंग-रौगन है कि देखा करे कोई!

शर्म से झुक गईं वह। लगा कि यह क्या पूछ बैठी, किससे—किस आवेश में...। मगर बन्दूक की नाल से जो गोली निकल चुकी थी, वापस आने से रही वह।

हाँ, उनके चेहरे पर उमड़ी हुई प्रतिक्रिया की लहर तो हमारी आँखों से छिप न पाई।

"मगर आप यहाँ खड़ी-खड़ी देख क्या रही हैं बड़े चाव से?"

"वही, वह···वह देखो, क्या आन-बान है निराली! अब तो फिर देखने से रहीं हम! कहाँ मिलेगी हिमानी चोटियों पर ऐसी गोधूलि की मोहिनी!"

"तो आप भी जा रही हैं क्या?"

"और क्या? कई दिन रह गईं, यही बड़ी वैसी बात ठहरी। परसों नये इंजीनियर जो आ रहे हैं—मकान खाली कर देना ठहरा।"

"तो फिर लंडन जाने का प्रोग्राम है न?"

"देखो, कैसे क्या होता है! अभी तो नैनीताल होते हुए जा रहे हैं कलकत्ते।··· अच्छा, आओ, तुम्हें अपने मित्र चेस्टर साहब से मिला दें"

चेस्टर साहब वहीं ठहरे दो कदम पर। देखा, तीस-पैंतीस का सिन है। छरहरा बदन, होंठों पर मुस्कान, आँखों पर ऐनक।

टहल-टहल कर बातें होती रहीं। पता चला, मार्टिन साहब से बचपन से ही साथ रहा आपका। यहाँ भी दोनों साथ ही आये। वह इंजीनियर, यह फर्म-मैनेजर। कोई कहीं रहे, मेल-जोल बना का बना रहा। इधर फर्म के कुछ जरूरी काम से आप लंडन गये थे। पाँच दिन हुए, वापस आये। कल नैनीताल में मार्टिन की मौत की खबर पाकर दौड़ आये यहाँ बेतहाशा। मिसेज मार्टिन को साथ लिये ही लौट रहे हैं आप।

तो उस अप्रत्याशित प्रश्न का समाधान यह चेस्टर का शुभागमन है क्या!····

(३)

दिन जाते दिन नहीं लगते····हाँ, हँसी-खुशी के दिन। कब आये, कब गये—पता पाना आसान नहीं। मगर, एक दिन वह भी आता है कि काटे नहीं कटता और रात लगती है काट खाने—आँखों में ही कटने जैसे।

जो हो, इस दुनिया में कुछ ऐसे भी हैं सधे-बँधे, जो किसी टेढ़े दिन के फेर में आये भी तो क्या, उसी के होकर रहे नहीं और न ऐसे गिर गये कि फिर जी उठने से रहा।

कोई आठ महीने बाद की बात है। कलकत्ते आकर दोनों हो मिलीं—वही मंजु, वही मिसेज मार्टिन। मगर कहाँ वह, कहाँ यह! एक के रेशे-रेशे पर मुर्दनी छाई है निरन्तर, दूसरी की पोर-पोर पर नई जिन्दगी की लहर!

मिसेज मार्टिन तो अब मिसेज मार्टिन रहीं नहीं, मिसेज चेस्टर हैं आज ! वही रोजमर्रे का राग-रंग है—वही ब्रिज और टेनिस, वही कॉकटेल। मार्टिन का बच्चा अब माँ के साथ नहीं, लंडन के किसी स्कूल में दाखिल है वह। बस, एक स्नेह का सरोकार जो हो, जितना।

रही मंजु। तो वह तो सर से पैर तक सुफैद हो रही है—सुफद चेहरा वह लुनाई, वह गुलाबी नहीं – सुफैद साड़ी, सुफैद ब्लाउज और पैर में सुफैद चप्पल। बस, एक सर के बाल काले के काले हैं जरूर, पर यह चेहरे पर छाये हुए बादल क्या वही मेघ-कज्जल कुन्तल-कलाप हैं कि 'बाल खोले तो घटा लोट गई !' वह रहा, रहा—न रहा, न रहा।

हाँ, अब शान्त-स्थिर है वह, अपने को सहेज ली है जैसे। हर साँस के साथ वह छाती की उसास नहीं। दोनों बच्चों की देख-रेख उसे बहलाये रहती है आठो पहर। पड़ोस की कन्या-पाठशाला में अध्यापिका क्या हुई, अपने पैरों पर खड़े होने की एक पौर पा गई। कुछ घंटे अपने को अपनी छाती की दबी हुई सिसकियों से अलग कर पाती है, यह भी गनीमत है।

मंजु से हम दो पल मिले भी। बात तो वैसी कुछ हो न पाई, पलकों से धरती कुरेदती रही वह। आँखों में आँसू लिये बोली—"आशीर्वाद दीजिये, बच्चे फूलें-फलें; हमें और चाहिये ही क्या !"

मंजु के देवर का विवाह है। उसे कलकत्ते के एक विलायती फर्म में अच्छी-सी जगह मिल गई है मिस्टर चेस्टर की ही सिफारिश से। फिर क्या, आसमान से सितारे उतार ले वह ! बरस पड़े सर पर अच्छे-से-अच्छे सम्बन्ध के अर्घ्य। लीजिये, एक बड़े घर को सोने में पीली, सोने-सी पीली सुन्दरी मिल गई—'चट मँगनी, पट व्याह !'

हम भी उस विवाह में शामिल ही रहे। मंजु तो घर में रहकर भी व्याह के घर से बाहर ही रही निरन्तर—व्याह के एक-एक रस्म से दूर, उछाह की सारी हलचल से दूर। जब सर से सिन्दूर धुल गया तो फिर इस जीवन-चमन का सुहाग ही लुट गया जैसे। थियेटर या सिनेमा तो मीलों दूर – घर को हँसी-खुशी में भी शामिल नहीं।

दो दिन बाद मिसेज चेस्टर से भेंट हुई तो वह एकाएक उबल पड़ीं—"क्यों जी, तुम तो मंजु से मिले होगे ? वह यों ही आँसू ही बहाती रह जायगी क्या ? उसे भगवान की देन रूप, रंग सब कुछ है— जब चाहे, अपनी वह खोई हुई जिन्दगी...."

"जी नहीं, वह जिन्दगी तो वापस आने से रही। जो टूट गई, टूट गई।"

"यह अजीब बात है! पति से गई—जिन्दगी से गई, जहान से गई? ऐसा? लो, हमको देखो, एक गया, गया; आ गया दूसरा! हमारा गया क्या?"

हम चुप रहे। दो पल ठहर कर बोले—"आप तो मार्टिन के रहते भी अपनी नाव पर पाल बदल पातीं। रास्ता ढूँढ़ लेना कोई मुश्किल नहीं, कोई प्रतिबन्ध नहीं। परिवार की गाँठ ही जो वैसी ढीली ठहरी!"

"तो बुरा क्या? हमारी लट कहीं दबी नहीं! अपनी खुशी खुशी ठहरी—है न? तुम्हारे यहाँ नारी बेचारी तो एक पर-कटी कबूतरी है जैसे—उड़ान लेना तो दूर, दरबे के दर के बाहर फुदक भी नहीं पाती! जानते हो, हमारे बच्चे की वह बूढ़ी आया क्या कहा करती रही बराबर?..."

"कहे जाइये!"

"यही कि मुझे परवाह नहीं, शौहर क्या है—कैसा, बेटा पढ़ा-लिखा या आवारा, बस, अपनी पंगत में राँड़ या बाँझ का नाम न हो—यही अपना सब कुछ ठहरा!"

"माफ़ कीजिये, आप जिस हवा-पानी में पल आईं, उसमें सब कुछ अपनी मौज है, अपना इन्द्रिय-सुख। वह पहले, पति या पुत्र पीछे। हमारे यहाँ नारी के हिस्से सेवा और त्याग आया, उसी समर्पण में ही उसके जीवन का स्पन्दन ठहरा!"

"ओ हो! बड़ा तीर मारा यों अपना सब कुछ लुटा कर!—By jove, what a calamity it is to be born a woman in this country!"

"आप नहीं मानतीं, न मानिये। पर, जब पचास के पड़ोस में आकर इन्द्रियों की सत्ता लगती है जवाब देने, तो फिर जिन्दगी की डावाँडोल नैया......"

"छोड़ो भी! कल क्या होगा—इसे लेकर हम आज की मौज पर आँच आने दें, ऐसे सिरफिरे तो होने से रहे हम!"



फूल और कलियाँ

अवतरण

श्री आरसी प्रसाद सिंह

सर्वथा ले जन्म नूतन
अवतरित तू हो भुवन में!
प्रेम के हे देवता! उठ,
जाग! मानव-मन-सुमन में!
ज्योति के सोपान से
नवचेतना उतरे धरा पर!
और गूँजे मेदिनी के
ज्वार से सम्पूर्ण अम्बर!
बह चले गंगा किरण की
विश्व के अन्तःकरण में!
सर्वथा ले जन्म नूतन
अवतरित तू हो भुवन में!
हो गयी जो लुप्त मरु-
पथ में भटक कर प्राण-धारा!
कर चुकी उदरस्थ जिसको
भूत-युग की लौह-कारा!
वह पुनः मुस्कान बन
खेले जगत्-शिशु के रुदन में!
सर्वथा ले जन्म नूतन
अवतरित तू हो भुवन में!
आ गया मधुमास, तरु के
अधर-पल्लव हिल रहे हैं!
कुंज में सौन्दर्य के नव
पुष्प-पाटल खिल रहे हैं!
शृंखला दे तोड़, नूपुर
बाँध दे छवि के चरण में!
सर्वथा ले जन्म नूतन
अवतरित तू हो भुवन में!
उड़ चलें उन्मुक्त नभ में
रश्मि के चंचल विहंगम!
फिर बने जीवन-त्रिवेणी
भारती का पुण्य-संगम!
कर उठें जगमग अमृत—
दीपक मरण-तिमिरावरण में!
सर्वथा ले जन्म नूतन
अवतरित तू हो भुवन में!
एक अभिनव शिखर पर फिर
आज मानवता खड़ी है!
नवल रूपान्तर उपस्थित,
नवल प्रजनन की घड़ी है!
जोड़ दे अन्तिम कड़ी तू
इस क्रमिक विकसित सृजन में!
सर्वथा ले जन्म नूतन
अवतरित तू हो भुवन में!

गीत

श्री जितेन्द्रकुमार

पीर नहीं यह, मेरे प्राणों में पलती है प्रीति तुम्हारी !
अश्रु नहीं, मकरन्द भरा है
मेरे नलिन-नयन में कोमल,
ओस नहीं, यह तो मोती है
दूर्वादल पर झलमल उज्ज्वल,
आह नहीं, यह सजल रंग है
मेरी इन्द्रधनुष - चाहों का,
पीर नहीं, यह मेरे प्राणों में पलती है प्रीति तुम्हारी !
खो कर सब विश्वास जगत् मेरा
लो, मुझसे दूर हो गया,
छलना का प्याला जो कर में
था वह क्षण में चूर हो गया,
मेरी आँखों का भ्रम-विभ्रम
स्वप्न समान विलीन हो गया,
जाग उठी अन्तर्मानस में एक अखंड प्रतीति तुम्हारी !
पीर नहीं यह, मेरे प्राणों में पलती है प्रीति तुम्हारी !
नास्ति नहीं यह अस्ति, दिगन्तों,
का यह व्यापक शून्य बोलता,
नहीं अव्याप्ति व्याप्ति यह वांछित,
कोई मुग्ध रहस्य खोलता,
नहीं अभाव, भाव यह
दीपशिखा-सा शाश्वत जल-जल उठता,
इस अखंड नीरवता में मुखरित है मंजुल गीति तुम्हारी !
पीर नहीं यह, मेरे प्राणों में पलती है प्रीति तुम्हारी !
तुम पीड़ाओं के माध्यम से
ही बरसातीं प्यार मनोहर,
तुम शूलों के माध्यम से ही
बिखरातीं मृदु फूल विहँस कर,

तुम अभिशापों के माध्यम से
ही देतीं वरदान अलक्षित,
ऐसी ही है नीति तुम्हारी, ऐसी ही है रीत तुम्हारी !
पीर नहीं यह मेरे प्राणों में पलती है प्रीति तुम्हारी !

कवि जी

प्रो० श्यामनन्दन 'किशोर'

विधना की
सृष्टि में,
खोये-से
हारे-से
प्यारे,
बेचारे-से
भाव के अभाव के
बीच में
निशंकु-से
लहराते कवि जी !
फहराते कवि जी !

× × ×

घुँघराले
कजराले
बालों के लच्छे !
बैठ गये, ऐंठ गये
जैसे हों क्षुधा-क्लान्त
साँपों के बच्चे !
बैलों की आँखों-सी
आँखें बड़ी-बड़ी,
निर्निमेष शून्य में
देखतीं घड़ी-घड़ी ।
और अंग ? मांस-हीन,
किन्तु, मधुर, शुभ दर्शन !
रक्तहीन,
किन्तु, जहाँ
जीवित है
आकर्षण !
ऐसे हैं कवि जी !
मूर्त्तिमान छवि जी !

× ×

पीते ह बचपन से
आँसू का खारा जल
खाते हैं बचपन से
हँस-हँस के
गम ही गम !
आँखों में
सरिताएँ,
प्राणों में मरुथल रे
बारहों महीने तो
रहता है
कम-से-कम !
साधक ये कवि जी हैं !
आराधक कवि जी हैं !

× ×

बाहर है
आग लगी,
भीतर हैं

झाँकते !
काया की सुन्दरता
छाया से
आँकते !
सावन में
गाते हैं
दीपक का
राग !
सूने शमशानों में
रचते हैं
फाग !
रण के
मैदानों में
फूँक रहे
बाँसुरी !
मैत्री विचारों में
कर्म कहाँ
आसुरी !!
धरती के मित्र
नहीं !

मनु के ये
पुत्र
नहीं !
आये आकाश से
सीधे
जमीन पर !
हँसते हैं,
रोते हैं,
सब कुछ ये
बीन बीन पर !
मानव की संज्ञा से
मुक्त करो
कवि जी को !
मुक्त करो छवि जी को !
और कहो जो कुछ तुम
मुझको है
मान्य सभी—
ऐसे हैं कवि जी !
वैसे हैं कवि जी !
ऐसे हैं कवि जी !
वैसे हैं कवि जी !

अपराजित

श्री महेन्द्र भटनागर

हो नहीं सकती पराजित युग-जवानी !
संगठित जन - चेतना को,
नव-सृजन की कामना को,
सर्वहारा - वर्ग की युग-
युग पुरानी साधना को,
आदमी के सुख-सपन को,
शांति के आशा-भवन को,

और ऊषा की ललाई
से भरे जीवन-गगन को,
मेटने वाली सुनी है क्या कहानी?
हो नहीं सकती पराजित युग-जवानी!
पैर इस्पाती कड़े जो,
आँधियों से जा लड़े जो,
हिल न पाए एक पग भी
पर्वतों से दृढ़ खड़े जो,
शत्रु को ललकारते हैं,
जूझते हैं मारते हैं,
विश्व के कर्त्तव्य पर जो
जिन्दगी को वारते हैं,
कब शिथिल होती, प्रखर उनकी रवानी!
हो नहीं सकती पराजित युग-जवानी!
शक्ति का आह्वान करती,
प्राण में उत्साह भरती,
सुन जिसे दुर्बल मनुज की
शान से छाती उभरती,
जो तिमिर में पथ बताती,
हर दिशा में गूँज जाती,
क्रान्ति का संदेश नूतन
जा सितारों को सुनाती,
बंद हो सकती नहीं जन-त्राण वाणी!
हो नहीं सकती पराजित युग-जवानी!



कला : एक अन्तरीक्षण

प्रो० रामसुहाग सिंह

काल के कपोल पर स्नेह-सिक्त नेत्र की एक अश्रु-बूँद के सदृश आगरे के ताज-महल की दुग्धधवलता, सर्जन और संहार के प्रतीक नटराज शिव की दक्षिण-भारत की काँस्यनिर्मित मूर्त्ति की ताण्डव-मुद्रा की भाव-भंगिमा, अजंता की गुफा के भित्ति-चित्रों में अंकित प्रज्ञाप्राप्त भगवान् बुद्ध का अपनी पत्नी और पुत्र के समक्ष भिक्षार्थ दैन्य एवं साम्यभाव प्रदर्शन, वीणा विनिनादित सुमधुर कण्ठ-स्वर-लहरी, पीयूषवर्षिणी कल्पनामयी वाणी का सुखद श्रवण; बाल-रवि की सुनहली किरणों से आलोकित हिम-कणों की मनोहारिणी छटा तथा शीतल-मंद-सुगंध वासंतिक समीर का मदिर स्पर्श प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में अलौकिक आनन्द और आह्लाद का उद्रेक करते हैं और उसकी प्रकृति, सहानुभूति, परिस्थिति एवं संवेदनशीलता के अनुकूल नाना प्रकार की भावनाएँ उद्भूत होती हैं।

यह विश्व वैलक्षण्य तथा विरोधी भावों का एक समष्टि-रूप है जिसके काँटे में पुष्प, अन्धकार में प्रकाश, रोदन में हास, संयोग में वियोग एवं विराग में अनुराग है। इसका प्रत्येक अणु-परमाणु एक विशेष सौन्दर्य-किरण की ज्योति से दीप्त है जिसके मधुर स्पर्श से स्वतः प्रकाश भी कोमल तथा विनम्र हो निखर जाता है, "इसकी रज को छू प्रकाश बन मधुर विनम्र निखरता।" इस विश्व में तिरस्कार में अभिवादन, अभिशाप में वरदान तथा चिन्ता में शान्ति के नैसर्गिक आनन्द का स्रोत अविरल रूप से प्रवाहित

होता रहता है। आनन्द के इस रहस्यमय सर्वव्यापी प्रभाव के परिज्ञान से कलाकार का हृदय द्रवीभूत, कल्पना प्रखर तथा दृष्टि तीक्ष्ण हो जाती है। वह पुष्पों के गान सुनता है और पर्वतों को अँगड़ाई लेते देखता है। उसे शैवाल समूह में चन्द्रमुखी की कोमल केश-राशि की अपूर्व छटा का दर्शन होता है :

तापसबाला गंगा निर्मल
शशिमुख से दीपित मृदु करतल,
लहरे उर पर कोमल कुंतल।—पन्त

सौन्दर्य की खोज मानव की आदि पिपासा है। भयानक परिस्थितियों में, मृगया और युद्धों में आयुधों का प्रयोग करते-करते जब वह ऊब कर क्षुब्ध हो गया तो उसे एक ऐसी वस्तु की आवश्यकता का अनुभव हुआ जो चिर सौन्दर्यमयी हो। सारी संसृति उसे सौन्दर्य के प्रतीक के रूप में दीख पड़ी, "अकेली सुन्दरता कल्याणि, सकल ऐश्वर्यों का संधान!' कलाकार की अनुभूति प्रकृति का सहारा ले नाना रूपों में प्रकट होने लगी, उसके नेत्रों की अश्रुधारा पुष्पों के कपोलों को भिगोने लगी, उसके हास के प्रकाश से घोरतम अंधकार का विनाश हो गया।

काली कलूटी कृषक-बाला कला के आलोक से दीप्त हो मृगेक्षिणी कृष्णकली बन गई :

कृष्ण कली आमितारेइ बलि
कालो तारे बले गाँयेर लोक।
मेघ्ला दिने देखे छिलाम माठे
कालो मेयेर कालो हरिण चोख।
घोमटा माथाय छिलोना तार मोटे
मुक्त वेणी पीठेर परे लोटे। * कवीन्द्र रवीन्द्र

कलाकार की दृष्टि ऐहिक सौन्दर्य से परितृप्त नहीं होती, वह अतीन्द्रिय सौन्दर्य-परक होती है। जहाँगीर की प्रेयसी नूरजहाँ अनिन्द्य सुन्दरी थी। उसके रूप-सौन्दर्य की अपरिमित महिमा के समक्ष सारा संसार नतमस्तक था। पर वह ऐन्द्रिय सौन्दर्य दिक् और काल की सीमाओं को पार नहीं कर सका। टैगोर की उर्वशी अमर, सर्वथा अकलुष एवं सौन्दर्य की एक अखण्ड सत्ता है। उसकी कान्ति से सागर की उत्तुंग

---

* जिस कृषक कन्या को ग्राम के निवासी काली कहते हैं, मैं उसे कृष्ण कली कहता हूँ। एक दिन जब आकाश मेघाच्छन्न था मैंने खेत में उसके हरिण के समान नेत्रों को देखा। सिर पर घूँघट एकदम ही नहीं था। मुक्तवेणी पीठ पर लोट रही थी।

लहरें, आकाश के प्रकाशमान तारे तथा प्रकंपित पृथ्वी के अणु-परमाणु अन्तर्भासित हैं:

सुर सभातले जबे नृत्य करो पुलके उल्लसि
हे हिल्लोल विल्लोल उर्वशी,
छन्दे-छन्दे नाचि उठे सिन्धु माझे तरंगेर दल
शस्य-शीर्षे सिहरिया काँपि उठे धरार अंचल
तव स्तनहार होते नभस्तले खसि पड़े तारा
अकस्मात् पुरुषेर वक्षोमाझे चित्त आत्महारा
नाचे रक्तधारा †

विश्व के जड़ और चेतन सभी एक दूसरे से किसी अदृश्य सूत्र में आबद्ध हैं। सभी एक दूसरे की ओर आकृष्ट हैं। सागर का तरंगित हो चन्द्रमा को अपनी गोद में धारण करने की उत्कट अभिलाषा, प्रेमिकाओं के सदृश सरिताओं का सागर को आलिंगित करने के लिए उल्लसित हो आगे बढ़ना, लताओं का वृक्ष का सहारा पा लहलहाना, सबों में एक दूसरे के प्रति रहस्यमय आकर्षण है, एक अनुराग है। यही आकर्षण सौन्दर्य का पर्याय है इसी सौन्दर्य का व्यक्तीकरण, इसी को कल्पना के उन्मुक्त पंखों द्वारा प्रकट करना कला है। वस्तुतः विश्व में अनुभूति या अनुभूत्याभास की आह्लादमयी चमत्कार-पूर्ण मनोहारिणी अभिव्यक्ति का ही नाम कला है। किसी वस्तु का तद्रूप निरूपण या अनुकरण कला नहीं कहला सकती। कला विश्वात्मा की अनुभूति की अभिव्यक्ति तथा निस्सीम सौन्दर्य का प्रकटीकरण है। कला सौन्दर्य को इन्द्रियगम्य और सौन्दर्य कला को मंगलमयी बनाता है।

सौन्दर्य कोई भौतिक तथ्य नहीं है। वह पूर्णरूपेण मानसिक व्यापार से संबंध रखता है और वह व्यापार मानसिक या आध्यात्मिक तत्त्व है। हृदय की उन्मुक्त वृत्ति अपने अनुकूल सौन्दर्य की कल्पना कर लेती है। जिसका हृदय जितना ही उदार,

---

† अयि उर्वशी, जब तुम देवताओं की सभा में पुलकित तथा उल्लसित हो चंचलता के साथ नृत्य करती हो, तब सागर के मध्य में तरंगों का समूह छन्द-छन्द में, नियमित गति से नाच उठता है। पृथ्वी का अंचल प्रकंपित हो उठता है और हरे-भरे अन्न के पौधे सिहरने लगते हैं। तुम्हारे स्तन के हार के दाने निकलकर तारों के रूप में बिखर जाते हैं। अकस्मात् पुरुष आत्मविभोर हो जाता है और उसके वक्षस्थल में रक्त की धारा नाचने लगती है।

विशाल एवं विस्तृत होगा उसमें सौन्दर्य भी वैसे ही विशाल तथा विशद रूप में उत्पन्न होगा। अर्थात् सौन्दर्यानुभूति मानसिक वृत्तियों तथा अन्तर की अवस्थाओं से बनती है। मन की जैसी परिस्थिति होती है वैसे ही रूप की कल्पना होती है :

जाकी रही भावना जैसी,
प्रभु मूरत देखी तिन तैसी।

ऐसे रूप-सौन्दर्य की उपासना वासनामूलक नहीं वरन् आत्मा को पवित्र, विशद एवं दिव्य बना देने वाली है। वास्तव में रूप-सौन्दर्य वहीं अपनी चरम सीमा पर पहुँचता है जहाँ वह निष्काम सहज आनन्द प्रदान करता है। राम-लक्ष्मण के अनुपम रूप सौन्दर्य को देखकर विदेहराज जनक भी मुग्ध हो जाते हैं :

सहज विराग रूप मन मोरा,
थकित होत जिमि चन्द चकोरा।

सहज सौन्दर्य तो आनन्द को भी आनन्द प्रदान करने वाला है :

सुन्दर स्याम गौर दोउ भ्राता, आनन्दहु के आनन्द दाता।

सौन्दर्य की अखंड सत्ता समस्त मानव-विकारों से परे, अपने रूप में पूर्ण तथा शाश्वत होती है। रूपजन्य सौन्दर्य तथा वासनामूलक आकर्षण क्षणिक होता है। सहज सौन्दर्य, "क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः"—प्रतिपल नवीनता धारण करनेवाला रमणीय रूप है। सौन्दर्य स्वयं पाप-वृत्ति की ओर नहीं जाता और वह दूसरों को भी उस ओर जाने से रोकता है, "यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्य-व्यभिचारि तद्वचः"—कुमारसंभव।

जो सुन्दर है, वही सत्य है, वही आनन्द है, वही कला है। कलाकार परिमार्जित सत्य को सौन्दर्य-रूप में परिणत कर उसकी रमणीय अभिव्यक्ति द्वारा कलाकृति की रचना करता है, "अभिव्यक्ति की कुशलशक्ति ही तो कला"—मैथिलीशरण गुप्त। अपनी सर्जनात्मक कल्पनाशक्ति के योग से वास्तुविद् ईंट-पत्थरों से स्थापत्य-कला की, मूर्त्तिकार काँस्य-प्रस्तरों से मूर्त्तिकला की, चित्रकार रंग-रेखाओं से चित्र-कला की, संगीतज्ञ स्वर-संधान से संगीत-कला की तथा कवि वाणी-वैदग्ध्य से काव्य-कला की सृष्टि करता है। एक ही अखंड अनुभूति, अनेक प्रकार से व्यक्त हो विभिन्न कला-भेदों की सृष्टि करती है। कला आत्मा की अभिव्यक्ति है और आत्मा एक अविच्छिन्न सत्ता है, अतः कला में भी भेद-प्रभेद का प्रश्न नहीं उठता। भेद-प्रभेद कला के नहीं, वरन् कला-कृतियों के होते हैं जो अन्तरात्मा के वाह्य रूप हैं। कला में उपकरण की विशेष महत्ता नहीं है क्योंकि कला का सौन्दर्य अभ्यंन्तर सत्य की अभिव्यक्ति में है। वाह्य उपादान

उस सत्य को मूर्त्त-रूप प्रदान करनेवाले आधारमात्र हैं।

सत्यानुभूति आश्रयों के अनुसार विभिन्न नामों से अभिहित होती है :

वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप
हृदय में बनता प्रणय अपार,
लोचनों में लावण्य अनूप;
लोक सेवा में शिव अविकार। —पन्त

कलाकार सत्य का उपासक और सौन्दर्य का पुजारी होता है। उसकी सौन्दर्याभिव्यक्ति में अमरता तथा सत्याभिव्यक्ति में रमणीयता होती है। इस लोक में प्रेमी-प्रेमिका का रूप-लावण्य एवं मिलनोत्कण्ठा क्षयिष्णु है, पर कलाकार के लोक के प्रियतम-प्रेयसी का रूप-सौन्दर्य तथा संयोग-प्रयास चिरंतन एवं अनन्त है :

Bold lover, never, never, canst thou kiss,
For ever wilt thou love, and she be fair! —Keats.

कलाकार का सत्य अनन्त और उसकी सृष्टि अमर होती है। राम की अयोध्या काल के प्रवाह में निमग्न हो सकती है पर वाल्मीकि की अयोध्या शाश्वत और काल के प्रभाव से सर्वथा मुक्त है :

सेइ सत्य या रचिबे तुमि,
घटे या ता सब सत्य न हे,
कवि, तव मनोभूमि
रामेर जन्मस्थान अयोध्यारचेये सत्य जेनो। * —कवीन्द्र रवीन्द्र

परमात्मा सत्यं शिवं सुन्दरम् का समष्टि रूप है। आत्मा उसका अंश होने के कारण वह भी इन तीनों विभूतियों से युक्त है। सत्य अनुभूति से समन्वित होने पर सुन्दर और सुन्दर लोक-हित-रूप में परिणत होने पर मंगलमय हो जाता है। कला में 'शिव' अर्थात् कला का चरमोद्देश्य ऐन्द्रिय सुख एवं भौतिक आनन्द की प्राप्ति नहीं है, अपितु आत्मिक विकास तथा आध्यात्मिक आनन्द की उपलब्धि है। कलाजन्य रसानुभूति की अवस्था में मनुष्य का मन स्वार्थमय सांसारिक संबंधों के संकुचित क्षेत्र से ऊपर उठकर लोक-सामान्य-भाव-भूमि पर पहुँच जाता है और अपनी सत्ता को लोक-सत्ता में विलीन कर देता है। उस समय विश्व के समस्त प्राणियों के साथ रागात्मक संबंध

* हे कवि, तुम्हारी ही रचना सत्य होगी। जितनी घटनाएँ घटती हैं वे सब सत्य नहीं होतीं। तुम्हारी मनोभूमि राम के जन्मस्थान की अपेक्षा विशेष सत्य है।

स्थापित हो जाता है और सावरणता-निरावरणता, प्रेम-घृणा, रक्षा-विनाश तथा सुन्दर-असुन्दर सबों में एक ही आनन्ददायिनी सत्ता की व्याप्तिका अनुभव होने लगता है।

कलाकार का हृदय भावना के कोमल तंतुओं से निर्मित होता है। उसकी हृत्तन्त्री के तार सुख की अपेक्षा दुःख, हर्ष की अपेक्षा शोक तथा संयोग की अपेक्षा वियोग से विशेष रूप से झंकृत होते हैं; सभी रागात्मिका वृत्तियाँ जाग्रत हो जाती हैं और हृदय दया, कृपा, क्षमा, सहानुभूति, औदार्य प्रभृति भावों से परिप्लावित हो जाता है। दुःख तथा वियोगजन्य वेदना विश्वकल्याण की भावना के रूप में परिणत हो जाती है। ऐसे समय में जो आह की ध्वनि निकलती है वही मधुरतम गान है :

Our sweetest songs are those
That tell of saddest thought—Shelley.

कविवर पन्त ने भी वियोग-प्रजन्य वेदना को कविता की मूलभूत प्रेरणा माना है :

वियोगी होगा पहला कवि
आह से निकला होगा गान,
निकलकर आँखों से चुपचाप,
बही होगी कविता अनजान। —पन्त

इसी वेदनामयी आत्मानुभूति को भवभूति ने प्राणभूत रस कहा है। एक करुण रस ही निमित्त-भेद से शृंगार आदि रसों के रूप में पृथक्-पृथक् प्रतीत होता है, "एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद् भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।"

कलाकार की प्रतिभा जीवन की सृष्टि में है। वह जिस मूर्त्ति का निर्माण करता है, जिस चित्र का अंकन करता है यदि वह सजीव और चैतन्य हो सका, यदि उसके रंग, ध्वनि और रेखा ऐसे रूपों का विधान कर सके जिनके अंगों से किसी आयुध के स्पर्श होते ही रक्त की धारा-सी प्रवाहित होने लगे तो कलाकार की सृष्टि सप्राण कहला सकती है। जो कलाकार अपनी चेतना तथा संजीवनी शक्ति देकर जितना ही अधिक सशक्त, जाग्रत और जीवन्त बना सकता है वह उतना ही अधिक उच्च कोटि का कलाकार है।

इस प्रकार सौन्दर्यानुभूति की रमणीय अभिव्यक्ति-प्रणाली को कला कहते हैं। जैसे, सूर्य, चन्द्र, तारे सर्वप्रथम उत्पन्न हुए वैसे ही मन्दिर, गिरजा, मसजिद आदि मानव-सभ्यता के आरंभ में निर्मित हुए। ये मानवीय भावों और अप्रमेय सत्य को प्रकाशित करना चाहते हैं। इनमें मानवीय आकृति नहीं है पर इनके द्वारा मानवीय विचारों, जातीय भावों तथा सभ्यता के विकास-क्रम का द्योतन होता है। ये मिट्टी, पत्थर के अत्यन्त स्थूल रूप परम सत्ता की अपार महिमा को अभिव्यंजित कर रहे हैं। इनके

भाव की गहराई में न्यूनता है पर व्यापकता म आधिक्य है। इसीलिए वास्तु-कला को घनीभूत संगीत कहा गया है, "Architecture is frozen music".
—Goethe.

जिस प्रकार स्थापत्य-कला सभ्यता का प्रथम सोपान है उसी प्रकार तक्षण-कला मानवीय-भाव-विकास-क्रम का द्वितोय प्रतिष्ठान है। भव्य भवनों, कीर्ति-स्तंभों तथा देव-मंदिरों के द्वारा मानवीय भावों तथा अनन्त सत्यानुभूति की अभिव्यक्ति में जो न्यूनता रह जाती है उसकी पूर्त्ति मूर्त्तिकला के द्वारा होती है। मूर्त्तियाँ प्रस्तर भाव-चित्र हैं। मूर्त्तियों मे अंगों का आनुपातिक समविभाग, क्रिया, भाव-भंगिमा तथा संयत सरलता ऐसे गुण हैं जिनके कारण ये भव्य, सप्राण और जीवन्त-सी प्रतीत होती हैं। इस कला के द्वारा समस्त रसों की सर्वांगीण अभिव्यक्ति होती है। इसमें एक साथ ही गांभीर्य, रमणीयता, भावुकता एवं आध्यात्मिकता अन्तर्निविष्ट रहती हैं।

सौन्दर्यानुभूति को एक विशेष व्यंजक रूप में, एक निश्चित अर्थ में अभिव्यक्ति का प्रयास चित्र-कला है। यह मूर्ति तथा वास्तुकला का विकसित और सूक्ष्मतर रूप है। चित्र-कला मे कभी-कभी भाव इतनी सूक्ष्मता और मार्मिकता के साथ व्यंजित होता है कि इसमे भी रस-निष्पत्ति के लिए वास्तविकता का आदर्शीकरण एवं साधारणीकरण होता है। ऐसे चित्रों को देखकर तथा नीरव गान को सुनकर मानव-मन कुछ क्षणों के लिए आत्म विस्मृत हो जाता है। चित्र की रेखाएँ हृत्तन्त्री को झंकृत कर देती हैं। आलेख्य कला में माधुर्य, ओज और प्रसाद तीनों गुण तथा हर्ष, विषाद, क्रोध, घृणा, दया, क्षमा प्रभृति भाव अन्तर्निहित रहते हैं और यह अर्थ, धर्म, काम एवं मोक्ष को देनेवाली है, "कलानां प्रवरं चित्रं धर्मकामार्थ मोक्षदम्।"

चित्र और संगीत काव्य के प्रधान अंग हैं। चित्र भाव को आकार प्रदान करता और संगीत उसे गतिशील, रमणीय एवं प्रेषणीय बनाता है। चित्र शरीर है, संगीत प्राण है। संगीत का प्रभाव विश्वव्यापी है। मनुष्य क्या पशु-पक्षी भी मधुर ध्वनि सुनते ही आनन्द मे मग्न हो जाते हैं। संगीत की रसमयी स्वर-लहरी अन्तर में प्रवेश कर मन की सभी चंचल वृत्तियों को परितृप्त कर देती है। मन कुछ क्षणों के लिए अन्य सभी विषयों से विलग हो एक अलौकिक आनन्दमयी अवस्था में तल्लीन हो जाता है।

वस्तुतः काव्य स्वतः संगीत है। काव्य और संगीत दोनों सृष्टि के मूल में हैं। दोनों के इसी सामंजस्य के कारण मानव-हृदय सृष्टि में तारतम्य का अनुभव करता है और विश्व के कण-कण में अनाहत मधुरनाद का श्रवण कर एक दिव्य सर्वव्यापिनी सत्ता के अस्तित्व का आभास पाता है। काव्य में संगीत के सामंजस्य होते ही कवि

विश्व के चिरन्तन लय से अपना संबंध स्थापित कर लेता है और उसकी आत्मा आनन्द एवं शान्ति के चेतन प्रवाह में विलीन हो जाती है। इस अपूर्ण जीवन को सम्पूर्णता की उपलब्धि काव्य में ही होती है। चित्र की प्रत्येक रेखा से एक रसमय भाव की व्यंजना होती है और काव्य की प्रत्येक पंक्ति से एक पूर्ण या खंड-चित्र की कल्पना होती है, "Poetry is a speaking picture and picture a mute poetry."

वाह्य जगत् ज्यों ही अन्तर्जगत् में प्रवेश करता है वह एक दूसरे ही जगत् के रूप में परिणत हो जाता है। इस नवीन जगत् में वाह्य जगत के रूप, रंग, ध्वनि, हर्ष, शोक आदि ही नहीं होते वरन् उसमें कलाकार की अभिरुचि, भय, विस्मय, उत्साह, हर्ष प्रभृति समन्वित हो जाते हैं। इस प्रकार एक ही दृश्यमान् जगत् मानसिक भावनाओं के मिलने से अनेक रूपों में प्रकाशित होता है। अन्तर्भावनाओं से संकुलित यह जगत् सर्वथा नवीन, आकर्षक, रमणीय एवं आनन्दमय है। द्रष्टा इस नवीन जगत् में अपना स्पष्ट प्रतबिम्ब देखता है, हृदय-साम्य का अनुभव करता है और आत्मा की ध्वनि के रूप में सर्वात्म-सत्ता की अमृतमयी ध्वनि को सुनता है। कला-जगत् की अजस्र भाव-धारा प्रत्येक रसिक हृदय में प्रवाहित हो विषमता का विनाश कर साम्य-भाव का प्रकाश करती है। यह प्रवाह चिर-पुरातन एवं चिर-नवीन है। यह अन्तर्भाव-धारा रंग-रेखा-विधान, स्वर-लहरी, शब्द-योजना तथा भाव-भंगिमा के द्वारा अनेक रमणीय मूर्त्त-रूपों में प्रकट हो विभिन्न कलाओं की सृष्टि करती है।

कलाकार अपनी संजीवनी शक्ति और सौन्दर्य-ज्ञान के द्वारा ऐसी सृष्टि की कल्पना करता है जो इस सृष्टि की अपेक्षा विशेष रमणीय और जीवन्त होती है। कलाकार की कल्पना उसकी अन्तर-प्रेरणा है, जिससे उसकी दृष्टि सूक्ष्म, मन चैतन्य और हृदय विशाल हो जाता है। दिक् और काल की सीमाएँ उसके स्वप्निल आदर्शों की पूर्त्ति में बाधा उपस्थित नहीं कर सकतीं। अमूर्त्त भावनाएँ मूर्त्त और साकार रूप में उसे दृष्टि-गत होती हैं। एक कल्पना-मात्र इन्द्र लोक की अप्सरा कवि पन्त के समक्ष हाड़-मांस की सृष्टि एक नर्त्तकी के सदृश नृत्य करने लगती है:

नग्न देह में सतरंग सुर-धनु
छाया-पट सुकुमार
तड़ित-चकित चितवन से चंचल
कर सुर सभा अपार।

कलाकार की यह विधायिका कल्पना-शक्ति इतनी प्रखर और तीक्ष्ण होती है कि

वह केवल अमूर्त और इन्द्रिय-अगम्य वस्तुओं को ही मूर्त्त-रूप प्रदान कर उन्हें निश्चित नाम से अभिहित नहीं करता वरन् एक मूर्तिमान् सत्य पदार्थ को भी सर्वथा नवीन और विशेष महत्त्वपूर्ण रूप में व्यक्त करता है :

"It is the spirit in man that retouches reality in a way and makes possible the rebirth of a higher reality which we call art. The touch of the spirit brings forth the blossoms on the arid wastes of the world—."Radha Krishnan.

कलाकार लघु और विशाल तथा तुच्छ और महान्, हिमालय और हिमकण सभी वस्तुओं में एक अनन्त सौन्दर्य सत्ता की निष्ठा का अनुभव करता है और सबों की एक दूसरे में परिणिति की कल्पना करता है। उसके हृदय का द्वार लँगड़े-लूले, रक्षक-घातक, पवित्र-पतित सभी के लिए खुला रहता है। वह राम-रावण, राधा-कुबरी, गाँधी-गोड्से सबों के प्रति समान रूप से सहानुभूति प्रगट करता है। वह पुण्यात्मा का स्वागत और पापात्माका अवमान नहीं करता। निकृष्टता और श्रेष्ठता का भाव तो हृदय संकीर्णता तथा अज्ञानता का फल है। कला अन्तर्ज्ञान की ज्योति है। उसके प्रकाश से आँखों पर पड़ा हुआ आवरण हट जाता है और किसी प्रकार का अहम् भाव नहीं रह जाता। राजकुमार कृष्ण भोली-भाली अशिक्षित व्रजवनिताओं के साथ रासलीला में तन्मय हो उनके एक-एक भ्रूक्षेप पर थिरकने लगता है। युवराज राम एक वनवासिनी भीलनी के उच्छिष्ट बेर में मधुरतम स्वाद का अनुभव करता है।

रसानुभूति को इस अवस्था में विश्व की प्रत्येक वस्तु की सत्ता में हम अपनी सत्ता का और अपनी सत्ता में प्रत्येक वस्तु की सता का अनुभव करते हैं। कला में इसी रागात्मिका वृत्ति का, सारी सृष्टि के साथ आत्मीय संबंध का आभास दीखता है। इसी लिए कला हमारे लिए प्रिय है। इसमें आत्मिक सुख समस्त विश्व का सुख है और समस्त विश्व का सुख आत्मिक सुख है। रामचरितमानस की रचना से तुलसी के 'स्वान्तः सुखाय' में तुलसी के सुख में समस्त विश्व का आनन्द अन्तर्निहित है।

आनन्दानुभूति की इस अवस्था में हम दूसरों को अपना और अपने को दूसरा समझने लगते हैं। हमें अपनी अनुभूति में ही आनन्द का अनुभव होने लगता है। याज्ञवल्क्य ऋषि ने इसकी निम्न प्रकार से सुन्दर व्याख्या की है:

न वारे पुत्रस्य कामाय पुत्रः प्रियो भवति,
आत्मनस्तु कामाय पुत्रः प्रियो भवति।

न वारे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवति,

आत्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति।

पुत्र और धन हमें इस लिए प्रिय नहीं हैं कि हम उन्हें चाहते हैं, वरन् हम अपने को चाहते हैं, इस लिए वे हमें प्रिय हैं।

हमः स्वतः पूर्ण नहीं हैं, जिन वस्तुओं में हम अपनी सत्ता से अपने को कुछ विशेष पाते हैं, अर्थात् जो वस्तुएँ हमारी-पूर्ति के रूप में हैं, वे हमारे लिए प्रिय हैं। हमारी पूर्ति किसी एक विशेष वस्तु से नहीं होती, जड़-जंगम, पशु-पक्षी सबों के समन्वय से होती है। इसी लिए यह सारा विश्व ही हमारे लिए सुन्दर और प्रिय हैः

प्रिय मुझे विश्व यह सचराचर,
तृण, तरु, पशु, पक्षी, नर, सुरवर,
सुन्दर अनादि शुभ सृष्टि अमर।—पन्त

कला इसी 'सुन्दर अनादि शुभ सृष्टि' के अस्तित्व की अभिव्यक्ति है। अरस्तू ने कला को प्रकृति की अनुकृति कहा है। पर कला प्रकृति की अनुकृति नहीं है क्योंकि कला में जो है वह प्रकृति में नहीं है। प्रकृति अपूर्ण और माया-मात्र है, कला पूर्ण और सत्य है। प्रकृति विश्वात्मा की एक झलक है, कला उस की अभिव्यक्ति है। कला प्रकृति की अपेक्षा विशेष सुश्रृंखल तथा भावप्रधान है। यह किसी की अनुकृति नहीं वरन् स्वतः एक सृष्टि है।

कला, कलाकार के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है। इसमें कलाकार के वास्तविक और काल्पनिक दोनों रूपों का सुखद समन्वय होता है। नहीं तो, केवल वास्तविक रूप नीरस और केवल काल्पनिक रूप व्यर्थ होता है। दोनों के समन्वित रूप की अभिव्यक्ति-स्वरूप कला सार्थक, सरस तथा रमणीय होती है।



श्री रामवृक्ष बेनीपुरी

११—वे लोग !

'युवक' के साथ ही फिर मेरा जीवन घोर राजनीति का शुरू होता है, अतः उसे प्रारम्भ करने के पहले मैं उन साहित्यिक गुरुजनों और साथियों की चर्चा कर लेना चाहता हूँ, जिन्हें निकट से देखने, जिनकी संगति में आने, जिनका आशीर्वाद पाने या जिनके सहयोग से लाभ उठाने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ—खास कर उनलोगों की चर्चा, जो अब हमारे बीच नहीं रहे !

ऐसे लोगों की ओर ध्यान जाते ही सबसे पहले दो साथियों की याद आती है—श्री रामधारी प्रसाद की और श्री राघव प्रसाद सिंह की। जब मैं देहात से शहर में आया, एक पुस्तकालय में प्रतिदिन पढ़ने जाया करता था। मैं सम्मेलन की प्रथमा परीक्षा में सम्मिलित होना चाहता था, उसके लिए किताबों के जुगाड़ में था। एक दिन एक युवक वहाँ आये और बातों ही बातों पता चला, वह भी सम्मेलन की परीक्षा में सम्मिलित होना चाहते हैं। उन्होंने बड़े स्नेह से अपने डेरे पर मुझे बुलाया। मैं पूरा दिहाती आदमी, डरते-डरते गया; क्योंकि पता चल गया था, वह कालेज में पढ़ते हैं, धनी आदमी हैं, अपना मकान लेकर रहते हैं। किन्तु, उस पहले दिन से ही उन्होंने अपने भाई की तरह जो अपनाया, उसे आजीवन निभाया। ऐसे थे भाई रामधारी प्रसाद जी।

हम दोनों ने साथ प्रथमा पास की, विशारद बने, बिहार प्रादेशिक हिन्दी साहित्य-सम्मेलन की स्थापना में सहायता दी, साथ ही उसके सहकारी मंत्री बने, संयुक्त मंत्री रहे, फिर वह सभापति हुए, तो मैं प्रधान मंत्री बना और दोनों ने सम्मेलन के लिए जहाँ तक सम्भव था, किया। आज वह नहीं हैं, किन्तु उनके स्मरण-मात्र से मेरा रोम-रोम कृतज्ञता से खिल उठता है!

राजनीति में भी हमने साथ-साथ प्रवेश किया। वह शान्त थे, धीर थे, जैसा शरीर था, वैसी ही स्थिर गति थी। मैं शुरू से ही चपल रहा, कुछ नटखट रहा, कुछ उतावला भी रहा। तुरत फैसला किया और दौड़ गये। न भय, न चिन्ता! राजनीति में मैंने सदा उग्र पथ पर चलना पसन्द किया। वह काँग्रेसी ही रहे, सुधार की राह ही उन्हें पसन्द रही। मैं क्रान्ति के लिए पागल—कुछ दिनों तक आतंकवादियों से भी साँठगाँठ रखी, उनका प्रशंसक तो सदा रहा, फिर समाजवादी बना, सदा अपने को संकटों में डालता रहा। अपने को ही नहीं, अपने परिवार को भी। उन्हें इसके लिए दुख होता, मेरे परिवार की भी मदद करने की कोशिश करते, कभी-कभी मुझे भी डाँटते। किन्तु, मत-विभिन्नता होने के कारण कभी हममें मनमुटाव नहीं हुआ।

यही नहीं, उन दिनों कायस्थ-भूमिहार का अजीब झगड़ा बिहार में था। वह कायस्थ थे, मैं भूमिहार था। किन्तु, ज़रा भी हममें इसके कारण भी मनोमालिन्य नहीं हुआ। मैं कहूँ, यह भाई रामधारी का स्नेह था कि कभी मेरे मनमें जात-पाँत की भावना उठी ही नहीं!

हिंदी के लिए उनके मनमें अपार स्नेह था। उस स्नेह का मूर्त रूप था सम्मेलन। प्रादेशिक सम्मेलन को वह किस निष्ठा से चलाते रहे, इसका साक्षी मैं हूँ। १९४५ में मैं जब जेल से छूट कर आया, यह उन्हीं का जादू था कि मुझे राजनीति से घसीट कर सम्मेलन के काम में पूरे पाँच वर्षों तक के लिए जोत दिया! छोटानागपुर में, बिहार के अहिंदीभाषी अंचलों में हिंदी प्रचार के लिए वह कितना व्याकुल रहते थे! इस दिशा में उन्होंने जो कार्य प्रारम्भ किया था, यदि उसे जारी रखा गया होता, तो वे समस्यायें नहीं उठा करतीं, जिनके कारण बिहार के अंगभंग तक की नौबत आ जाया करती है!

अचानक उनकी मृत्यु हुई, अद्भुत उनकी मृत्यु हुई! बिहार ने उनके रूप में अकाल ही एक अनन्य सेवक खोया, इसमें सन्देह नहीं।

भाई रामधारी के ही साथ राघव जी से भेंट हुई थी। उन दिनों स्वदेशी का बोल-बाला था। राघव जी की एक दुकान थी, सिंह एंड कम्पनी। घाटा सह कर भी सिर्फ स्वदेशी वस्तु का ही कारबार वह करते। स्वदेशी पेंसिल, स्वदेशी निब, स्वदेशी लालटेन,

स्वदेशी साबुन—इन सबकी खोज करनी पड़ती थी उन दिनों और ये साधारण चीज़ें भी मुश्किल से मिल पाती थीं। राघव जी की दुकान ही उस बड़े शहर में एक दुकान थी, जहाँ आप किसी चीज़ के स्वदेशी होने की गारंटी पा सकते थे, क्योंकि स्वदेशी की भावना देख उन दिनों विदेशी माल भी लोग स्वदेशी के नाम पर खपा लेते थे। यही नहीं, उनकी दुकान एक ऐसा अखाड़ा थी, जहाँ स्वदेश-प्रेमियों और साहित्य-प्रेमियों का गंगा-जमुनी-संगम होता। शहर के ही नहीं, प्रान्त के स्वदेशप्रेमियों और साहित्य प्रेमियों को आप वहाँ प्रायः देख ले सकते थे!

प्रादेशिक सम्मेलन के हम तीनों ही सहकारी मंत्री रहे। वह हम दोनो से बड़े थे। उन्हें कविता की ओर रुचि थी। उनकी लिपि बड़ी सुन्दर होती थी। सुन्दर उक्तियों को आभूषित अक्षरों में लिखने का उन्हें कमाल हासिल था, इसका रोजगार भी उन्होंने कुछ दिनों के लिए किया था। जब मैं 'बालक' में गया, उन्होंने बच्चों के लिए कविता लिखना शुरू किया, वे कवितायें बड़ी ही सुन्दर होतीं। एक बार वह उनका संग्रह लेकर मुझ से छपवाने के सम्बन्ध में परामर्श करने भी आये थे। उन दिनों उन्होंने दुकान उठा दी थी। किंतु, अचानक सुनने में आया, वह अब नहीं रहे! हम सभी सन्न हो रहे। बार-बार सोचता हूँ, न-जानें उनकी उन कविताओं का क्या हुआ? सिर्फ सुन्दर लिपि के कारण भी किसी भी संग्रहालय के लिए वे शोभा की वस्तु हो सकती थीं!

बिहार प्रादेशिक हिंदी साहित्य सम्मेलन के प्रथम अधिवेशन का सभापतित्व किया था, पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी ने। चतुर्वेदीजी हास्यरसावतार थे। अधिवेशन में अपनी उक्तियों से उन्होंने लोगों को लोटपोट कर दिया था। उन दिनों पश्चिम के कुछ लेखकाचार्य 'पूर्वी हिंदी' कह कर बिहार की भाषा की फब्तियाँ उड़ाने और गालियाँ देने से अघाते नहीं थे। चतुर्वेदी जी उन्हें तुर्की-बतुर्की जवाब देकर हमें आगे बढ़ते रहने को प्रेरित करते थे। यों तो वे चौबे थे, जिन्दगी भर कलकत्ता में रहे; किंतु मलयपुर, मुँगेर के नाते अपने को बिहारी मानते थे और हम भी उन्हें अपना समझते थे। जब मैं 'तरुण भारत' में था, पहली बार कलकत्ता गया। कहाँ ठहरूँ, यह प्रश्न हुआ। मैं सीधे चतुर्वेदी जी के घर पर पहुँचा और वहाँ जो आतिथ्य पाया, स्नेह पाया, आज भी नहीं भूल पाता।

चतुर्वेदी जी में विलक्षण प्रतिभा थी। भाषा पर असामान्य अधिकार था उनका। व्याकरण की बारीकियों के वह पारखी थे। बड़े-बड़े लोगों से टक्कर लेने में उन्हें मजा आता था। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी से उनकी सदा नोंकझोंक रही। 'कालिदास की निरंकुशता' 'भाषा की अनस्थिरता' आदि मनोरंजक विवाद उन दिनों चले थे।

बाबू श्यामसुन्दर दास, कविवर शंकर किस-किससे वह नहीं भिड़े ! जब वह हिन्दी साहित्य सम्मेलन के लाहौर-अधिवेशन के सभापति हुए, उनके 'अभिभाषण' पर शंकर ने लिखा—

हिन्दी का व्याकरण है अभिभाषण के साथ !
मौजी मौज समास से सिद्ध हुआ जगनाथ ।

चतुर्वेदी जी हास्यरस के चुटकुले 'मौजी' नाम से लिखते थे और अपने भाषण में उन्होंने एक अपनी ब्रजभाषा की कविता दी थी, जिसमें 'जगन्नाथ' के बदले 'जगनाथ' शब्द आया था। शंकर को उन्होंने करारा जवाब दिया—

शंकर अब सठिया गया भूल गया है ज्ञान ।
जगन्नाथ के भात का करता है अपमान !

बहुत दिनों तक यह पद्यबद्ध उत्तर-प्रत्युत्तर चलता रहा था। उन दिनों के विवाद भी कितने सरस होते थे ! दो महारथी दिन भर एक-दूसरे पर वाणों की वर्षा करते और संध्या को एक ही साथ बैठकर अमोद-प्रमोद करते। आज तो सब कुछ भ्रष्ट हो चला है ! वाद-विवाद के नाम पर गाली-गलौज ! प्रशंसा भी भ्रष्ट और निन्दा की तो बात मत पूछिए—जैसे पीब का पनाला बह रहा रहो !

कलकत्ता की उसी यात्रा में बिहार के एक मौन साधक से भेंट हुई, जो हिन्दी के, उन दिनों के सर्वश्रेष्ठ दैनिक 'भारतमित्र' के संचालक के रूप में प्रख्याति प्राप्त कर चुके थे। वह थे आखौरी यशोदानन्दन जी। वह प्रौढ़ लेखक भी थे और कविता भी अच्छी करते थे। कलकत्ता की साहित्य-मंडली में उनका बड़ा सम्मान था। बड़े ही सात्विक पुरुष, विनय और शिष्टता के अवतार। हमने पीछे उन्हें बिहार प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सभापति बनाकर अपने को सम्मानित किया था।

बिहार के एक और बड़े साहित्य-साधक कलकत्ता में बिहार और हिन्दी की ध्वजा फहराते रहे, वह थे पं० सकलनारायण शर्मा जी तीर्थत्रयी ! दर्शन, काव्य और व्याकरण तीनों के तीर्थ। अप्रतिम प्रतिभाशाली। आरा नागरी प्रचारिणी सभा की संस्थापना में उनका बहुत बड़ा हाथ था और उन दिनों यह सभा अपनी समाननामा काशी की सभा से कार्यशीलता में होड़ लेती थी। उसकी अपनी पत्रिका थी, उसका अपना प्रकाशन था। हिन्दी में अनुसंधान कार्य कराना और वैज्ञानिक साहित्य प्रस्तुत करना—छोटे पैमाने में ही सही—उसने प्रारम्भ किया था। हिन्दी साहित्य सम्मेलन का जन्म देने में भी उसका हाथ था। शर्मा जी उन दिनों सभा की आत्मा थे। उनका जीवन एक आदर्श ब्राह्मण का जीवन था। उनकी प्रतिभा पर ही मुग्ध होकर सर आशुतोष ने उन्हें कलकत्ता विश्वविद्यालय में बुला लिया था। पटना से प्रकाशित

होनेवाली "शिक्षा" के वह सम्पादक थे। उनकी टिप्पणियाँ, उनके लेख बड़े ह मौलिक होते थे। 'मिश्री' और 'चीनी' ये दो नाम ही बताते हैं, ये विदेशी माल हैं—एक मिश्र की ओर से आया होगा, एक चीन की ओर से और दोनों ने मिलकर हमारी शर्करा या खाँड़ को नीचे दबा दिया—उनकी यह उक्ति जो बचपन में पढ़ी थी, दिमाग पर आज भी नक्श है! मैं इस कथन के तथ्य की बात पर नहीं जाता!

जिन दो महान आत्माओं को खोकर बिहार के साहित्य-जगत ने अपने दो जाज्वल्यमान सितारे खो दिये और जिनकी पूर्ति आज तक, मेरी समझ में, नहीं हो सकी, उनकी याद ही हृदय को विचलित कर देती है! वे दो विभूति थे—दर्शनकेसरी पांडेय जगन्नाथ प्रसाद जी और प्रोफेसर राधाकृष्ण झा जी। ये दोनो ही उन दिनों पटना-कालेज के प्रोफेसर थे। पांडेय जी साहित्याचार्य पं० रामावतार शर्मा के प्रिय शिष्य थे। प्रतिभा के पुंज! कलकत्ता-विश्वविद्यालय के रायचंद-प्रेमचंद-स्कालरशिप के लिए वह परीक्षा में बैठे थे और जब उन्हें वह प्राप्त नहीं हो सकती थी, तो उन दिनों यह प्रचलित था कि शर्मा जी ने कलकत्ता विश्वविद्यालय को चुनौती दी थी कि वह उनके परीक्षापत्र को प्रकाशित करे और यदि कोई वैसा लिख दे कि उसे शर्मा जी ही उतनी रकम दे देंगे। पांडेय जी ने मुजफ्फरपुर से प्रकाशित "सत्ययुग" का सम्पादन किया था, जो उन दिनों एक उत्कृष्ट कोटि का मासिक था। भाई रामधारी के साथ मैं उनके घर पर, शिकारपुर (चम्पारण) भी गया था और उनकी प्राइवेट लाइब्रेरी देखकर चकित हो गया था। जब असहयोग-आंदोलन आरम्भ हुआ, पांडेय जी ने इस्तीफा दे दिया था। वह हम लोगों के प्राकृतिक नेता थे और जब उनकी अचानक मृत्यु हुई, हम लोग अनाथ-से हो गये!

क्या बिहार को याद है, हिन्दी-संसार को छोड़िए, कि यह हमारे प्रोफेसर राधाकृष्ण झा जी थे जिन्होंने हिंदी में सबसे पहले अर्थशास्त्र और राजनीति पर दो प्रामाणिक ग्रंथ दिये थे? "भारत की साम्पत्तिक अवस्था" लगभग एक हजार पृष्ठों की पुस्तक थी। जब वह कलकत्ता से प्रकाशित हुई थी, हिंदी-संसार में हलचल मच गई थी! यों ही उनकी 'भारतीय शासन-पद्धति" अपने विषय की हिंदी में पहली पुस्तक थी, जिसमें वेदकाल से लेकर अँगरेजी राज्य तक की शासन-पद्धतियों पर प्रकाश डाला गया था। इसके अतिरिक्त झा जी पत्र-पत्रिकाओं में सदा लिखा करते थे। वह स्वयं एक संस्था थे, सदा लोग उन्हें घेरे रहते और सभी सांस्कृतिक और साहित्यिक काम में उनकी दिलचस्पी रहती। नये लोगों को प्रोत्साहित करते हुए वह थकते नहीं थे। जब मैं "गोलमाल" में था, एक दिन बड़े प्रेम से मुझे पुचकारा और

सदा साहित्य सेवा करते रहने के लिए बढ़ावा दिया। बड़े ही हँसमुख, मधुरभाषी, प्रत्युत्पन्नमति, उदार—देखने में भी बड़े ही सुन्दर। शरीर भी काफी पुष्ट था; किन्तु अचानक कहाँ से क्षयरोग आ लगा और थोड़े ही दिनों के बाद खबर मिली, वह चल बसे!

बिहार में उन दिनों दो वैद्यराज थे, जिनकी साहित्यिक सेवा भी कभी नहीं भुलाई जा सकेगी। एक थे पं० शिवचंद्र मिश्र जी। मुजफ्फरपुर में उनकी बड़ी धाक थी, वैद्य की हैसियत से और साहित्यिक की हैसियत से भी। 'आयुर्वेद-प्रदीप' नाम से एक मासिक पत्र भी निकाला था उन्होंने। साहित्य सेवा के सभी कामों में पूरी सहायता करते। बड़े ही सहृदय व्यक्ति। जब मैं दमा से पीड़ित था, औषधि ही नहीं दिया करते थे, आश्वासन से भी मुझे आश्वस्त करते थे। 'रामचरित मानस' के बड़े ही हिमायती, कहा करते थे, 'महाभारत' के अतिरिक्त संस्कृत में भी ऐसा सर्वगुणसम्पन्न पुस्तक नहीं है। मुझे साहित्यिक जी' कहकर पुकारते थे!

दूसरे वैद्यराज की तो हिन्दी के निर्माताओं में उन दिनों गिनती होती थी। बाबू श्याम-सुन्दर दास ने "हिन्दी कोविद" नाम से जो पुस्तक लिखी, उसमें उनको सादर स्थान दिया था। वह थे प० चन्द्रशेखरधर मिश्र जी। अद्भुत व्यक्ति थे वह। गूलड़ के अनेक गुणों का अनुसंधान किया था उन्होंने। उसपर पुस्तकें रचीं, श्लोक बनाये। यात्रा में भद्रा पर सबसे अधिक ध्यान रखते। अपने साथ अपने चुल्हे के साथ लकड़ी भी लिये चलते। पोशाक भी विचित्र। संस्कृत के प्रचंड विद्वान। चम्पारण से एक पत्रिका भी निकाला करते थे। काशी में जब रहते, वहाँ के साहित्यिक-क्षेत्र से निकट सम्पर्क रखते। खड़ी बोली को खड़ा करनेवालों में उनकी गिनती थी। अभी उस दिन चम्पारण में उनके सुपुत्र से भेंट हुई थी, उनकी शिकायत थी, उनके पिताजी को लोग जानबूझ कर भुला बैठे हैं, क्योंकि हिन्दी का एक युग उनका युग था, उस युग को लोग दूसरा युग कह कर घोषित करना चाहते थे और कर रहे हैं। बात जो हो, हमने उन्हें प्रादेशिक सम्मेलन का सभापति बनाकर अपने ऋण का कुछ अंशों में परिशोध तो कर ही दिया था!

किन्तु मुझे तो अधिक दुख इस बात का है कि हमलोग बाबू शिवनन्दन सहायजी की तरह के तपस्वी साहित्य-साधक को भूल रहे हैं। सहाय जी ने "भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और "गोस्वामी तुलसीदास" की दो ऐसी जीवनियाँ प्रस्तुत कीं, जिनके जोड़ की चीज उस समय तो नहीं ही थी, अब भी वैसी साहित्यिक जीवनियाँ हैं या नहीं, यह संदेहास्पद है। नाटे, दुबले सामने सुफेद चुक्की दाढ़ी, कुछ कम सुनते, किंतु इसीसे गुनते

बहुत। हिंदी संसार में उनकी बड़ी कदर थी। एक बार उन्हें हिंदी साहित्य सम्मेलन का सभापति बनाने की बात भी चलती थी, किन्तु, वह बिहार के थे— प्रयाग में उनकी क्या चलती! हाँ, हमने अपने प्रादेशिक सम्मेलन का सभापति बनाकर अपने दिल जरूर हल्का कर लिया था किन्तु, मैं मानता हूँ, हमने उनकी कदर वैसी नहीं की, जिसके वह हकदार थे!

जब मैं शहर में आया, पुस्तकालय के टेबुल पर जो पत्रिकायें थीं, उनमें एक थी 'श्रीकमला'। वह भागलपुर से निकलती थी, अच्छी पत्रिका थी। उसके सम्पादक थे, पं० जीवानन्द शर्मा। शर्मा जी ने नाटक भी लिखे थे। उन दिनों उनका "बूढ़े का व्याह" बहुत प्रचलित था और उसका सुन्दर अभिनय भी मैंने देखा था। हल्की-सी चीज थी, किंतु काफी मनोरंजक और उपदेशप्रद। पीछे शर्मा जी ने पटना से 'प्रजाबंधु' निकाला था, उसके लिए लिमिटेड कम्पनी खड़ी की थी। शायद हिन्दी के लिए बिहार में यह पहली लिमिटेड कम्पनी थी। 'श्रीकमला' तब तक बंद हो चुकी थी, 'प्रजाबंधु' भी बंद हुआ। तब शर्माजी ने कथावाचक का काम प्रारम्भ किया। १९३० के नमक-सत्याग्रह के समय उन्हें हजारीबाग जेल में देखा। फिर १९३४ के भूकम्प में वह दब मरे। शर्माजी भी विलक्षण पुरुष थे। बिहार की प्रारम्भिक पत्रकारिता तथा हिंदीसेवा में उनका स्थान भी उच्च था।

बिहार की उस युग की पत्रकारिता में पं० पारसनाथ त्रिपाठी के नाम को भुलाया नहीं जा सकता। 'पाटलिपुत्र' के सम्पादक थे बाबू सोना सिंह चौधरी, किंतु उसके सारे काम त्रिपाठी जी करते थे। हथुआ नरेश की छत्रछाया में निकलनेवाला यह साप्ताहिक बिहार का सर्वांगसुन्दर पत्र था। इसे यह यश देने में त्रिपाठी जी का बड़ा हाथ था। असहयोग-आंदोलन में यह पत्र बंद हो गया। फिर त्रिपाठी जी राजेंद्र बाबू के 'देश' में आये, जहाँ एक सम्पादकीय के कारण उन्हें जेल की सजा हुई। जेल में ही थे कि उनके भाई की मृत्यु हुई, वह माफी माँग कर चले आये! किंतु उनके हृदय में सच्ची देशभक्ति थी, इस आकस्मिक विपत्ति ने उन्हें विचलित कर दिया था। अतः हमारी नज़रों में वह सदा ही ऊँचे रहे, किंतु वह स्वयं खिन्न रहा करते! गाँव में जाकर बैठ गये थे। जब इस आघात से ऊपर हुए, आरा से एक पत्र निकालने लगे। किंतु एक दिन, कांग्रेस मिनिस्ट्री के बाद, जब वह बाबू अनुग्रहनारायण सिंह के साथ दौरे पर गये थे, अचानक मोटर-दुर्घटना हुई और त्रिपाठी जी का घटना-स्थल पर ही प्राणान्त हो गया! बिहार ने एक अनन्य हिंदी-सेवी खोया।

जब इतना लिख चुका हूँ, कितने चेहरे सामने आ रहे हैं ! किंतु, एक की चर्चा किये बिना तो इसे समाप्त नहीं ही किया जा सकता है। वह थे पं० ईश्वरी प्रसाद शर्मा।

शर्माजी ने आरा से 'मनोरंजन' निकाला था। बड़ा ही सुंदर मासिकपत्र था, यथा नाम, तथा गुण। 'मनोरंजन' के सम्पादक स्वयं भी मनोरंजन-मूर्त्ति थे। हँसाने, गुदगुदाने, चिकोटी काटने का उनका स्वभाव था। मुझे याद है, एक बार काशी में मैं एक मारवाड़ी बासे में पालथी मार कर भोजन कर रहा था। पीछे से आकर किसी ने ऐसा गुदगुदा दिया कि मैं उठ खड़ा हुआ मुँड़कर देखता हूँ, शर्मा जी खिलखिला रहे हैं। चेहरा भी सुंदर, उसे सँवार कर रखते भी। बात-बात में चुटकियाँ, जिसपर भिड़ गये, भगवान उसका भला करे ! लिखने में धक्काड़—उनकी लेखनी सदा खरांटे से चला करती। एक दिन में दो तीन फर्में लिख डालना उनके लिए बायें हाथ का खेल था। कई स्थानों में घूमते फिरते कलकत्ता में जा रमे थे, या कहिये, जम गये थे। वहीं से 'हिंदूपंच' निकाला था, जो 'मतवाला' के बाद हिंदी-संसार का हास्यरस का सर्वाधिक जनप्रिय पत्र था। शर्मा जी का निधन भी असामयिक हुआ।

आज वे लोग नहीं रहे; किंतु उन्हीं की सेवा का, तपस्या का, धुन का, लगन का, अनवरत परिश्रम का, अटूट मेहनत का यह फल है कि आज बिहार में साहित्य के लिए इतनी रुचि है, जागृति है ! वे नमस्य हैं प्रणम्य हैं।

[क्रमशः]



धर्मोदय विहार,
कलिमपोंग
१८-१२-५३

भाई बेनीपुरी,

यदि इस सूचना में अपने व्यक्तिगत संतोष के लिये कुछ विशेष न समझें तो मैं कहना चाहता हूँ कि जब तक 'नई-धारा' को मैं पढ़ नहीं लेता तब तक वह मेरे लिये 'नई-धारा' ही बनी रहती है घूमते-फिरते रहने के कारण कभी-कभी तो अंक काफी विलम्ब से पढ़ पाता हूँ। अक्तूबर-नवम्बर के अंक आज दिसम्बर में पढ़े हैं।

अक्तूबर के अंक में 'राहुल जी के ऐतिहासिक उपन्यासों में जीवन-सिद्धान्त' शीर्षक लेख थोड़ी उत्सुकता से ही पढ़ा। राहुल जी ने 'वोल्गा से गंगा' से आरम्भ करके 'मधुर-स्वप्न' तक और उसके बाद भी ऐतिहासिक कथानकों की जो 'नई-धारा' बहाई है उसकी पृष्ठसंख्या ही पर्य्याप्त है। उन हजारों पृष्ठों में से माँस-मदिरा सम्बंधी उद्धरणों का ही संकलन कर उन से 'नई-धारा' के चार पन्नों को भर देना इतने हलके ढंग की समीक्षा है कि वह किसी भी समीक्षक को शोभा नहीं देती।

'सिंह-सेनापति' और 'जय-यौधेय' सदृश उपन्यासों म सर्व-प्रथम उनके अपने समय का जीवन-दर्शन व्यक्त हुआ है, उसके बाद राहुल जी का भी। जिस उपन्यासकार ने न केवल अपनी स्वतंत्र जीवनी (मेरी जीवन-यात्रा, २ भाग) लिखी हो, किन्तु अपने विचारों और उनके निरन्तर विकास की गाथा कहने वाले ग्रंथों को एक पूरी लाइब्रेरी की लाइब्रेरी रच डाली हो तो किसी को भी उपन्यासकार के उपन्यासों में ही उसके जीवन-सिद्धांत खोज-खोज कर निकालने की आवश्यकता नहीं। समीक्षक को ऐतिहासिक उपन्यासों की समीक्षा एकमात्र उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को लेकर करनी चाहिये।

इन पंक्तियों के लेखक की विनम्र सम्मति म हम सभी को राहुल जी की प्रतिभा का कृतज्ञ होना चाहिये कि उन्होंने असाधारण ईमानदारी के साथ ऐतिहासिक कथानकों के बहाने प्राचीन भारतवर्ष के इतिहास के अनेक पृष्ठों को यथार्थ रूप में चित्रित करने का सफल प्रयास किया है।

भले ही यह आश्चर्य्य और कई लोगों के लिये खेद का ही विषय हो किन्तु यह बात सत्य है कि प्राचीन ग्रन्थों को पढ़ने से हमारी अनेक प्रचलित धारणाओं पर—चाहे वे दार्शनिक हों, चाहे सामाजिक और चाहे नैतिक—जितनी चोट पड़ती है उतनी अधिकांश आधुनिक ग्रन्थों को पढ़ने से भी नहीं। संस्कृत-साहित्य के एक मर्मज्ञ विद्वान ने एक बार कहा था कि शतपथ-ब्राह्मण सदृश ग्रन्थों को पढ़ते समय ऐसा लगता है मानों हम किसी कसाईखाने में बैठे हों।

और फिर 'उपन्यास' आखिर उपन्यास है। यदि उस थोड़ी रंगीनी न हो तो भी कैसे चलेगा? यदि वह रंगीनी दोष है तो उत्तरदायी आज का पाठक-समाज है जो उसके बिना कोई 'उपन्यास' पढ़ ही नहीं पाता।

'नई-धारा' के जिस अंक में रायकृष्णदास का इतना अध्ययनपूर्ण लेख पढ़ने को मिला, उसी में ऐसी हलकी समीक्षा राहुल जी के उपन्यासों की ऐतिहासिक समीक्षा की उपेक्षा है। किन्तु यदि मैं ही चाहूँ कि यह काम करने लगूँ तो यह मेरे वश की बात नहीं।

दूसरी बात मैं 'अज्ञेय' जी के पत्र और उसपर आप के नोट के सम्बन्ध में कहना चाहूँगा। दूसरों के लेख अपने नाम से छपवाने और अपने लेख दूसरों के प्रसिद्ध नामों से प्रचारित करने का रोग पुराना है, सर्वव्यापक है इसकी शिकायत ही की जा सकती है। लगता है इलाज नहीं ही है। एक व्यावहारिक बात समझाता हूँ। निश्चय से इसका कुछ उपयोग है। हिन्दी में से यह 'उपनामों' की बला को छुट्टी दे दी जाय। जब किसी युग में कवि-गण कविता के अन्तिम चरण में अपना छोटा नाम दिया ही करते थे तो उप-नामों का कुछ अर्थ था। अब तो विरले ही कोई कवि उस रूप में 'उपनाम' का उपयोग करता हो तो करता हो। तब भी न जाने क्यों आज का हिन्दी कवि, कवि बनने से पहले उपनाम की ही खोज में भटकना आरम्भ कर देता है। आज 'हिन्दी' में तरह-तरह के कोष छप रहे हैं। आश्चर्य्य है किसी भले प्रकाशक ने 'उपनामों' का कोष प्रकाशित नहीं किया। बहुतों का उपकार हो जाता। किन्तु यदि नहीं किया तो अब करने की तनिक आवश्यकता नहीं। क्या कहूँ यह 'उपनामों' का रोग ऐसा चला है कि जो साहित्यिक एकदम 'गद्य' है उसे भी 'उपनाम' चाहिये ही। निस्संदेह कभी-कभी अपने आप को अप्रकट बनाये रखने के लिये छद्मनाम की तरह उपनाम का उपयोग समझ में आता है। किन्तु वह 'उपनाम' क्या जो नाम पर भी बाजी मार ले जाय? कोई पूछे हिन्दी में श्रीमान 'अज्ञेय' आज किसके लिये 'अज्ञेय' रह गये हैं? तब 'अज्ञेय' जी अब व्यर्थ में 'अज्ञेय' क्यों बने हुए हैं? वे अपने पिता जी के साथ-साथ अपने पूरे नाम का उपयोग करें और तब देखें किस इलाहाबादी-पत्रिका का कोई भी गैर-जिम्मेदार सम्पादक कैसे आपके नाम के साथ खिलवाड़ करता है?

यूँ 'उपनामों' का एक फायदा कभी-कभी मुझे भी जँचता है। जब अन्य नामों के साथ डिग्रियाँ छपी रहती हैं तो बिना डिग्री का नाम नंगा सा लगता है। 'उपनाम' है कि इज्जत रख लेता है। 'उपनाम' के साथ डिग्री दरकार नहीं।

किन्तु अधिक सोचने पर मुझे ये दोनों बातें बहुत बुरी लगती हैं (१) लोगों के नामों के साथ उनकी जात-पाँत के विज्ञापक प्रत्ययों का लगना तथा (२) नामों के

साथ-साथ डिग्रियों का चिपके रहना।

दोनों के ही बारे में मुझे कबीर का कथन जँचता है—

जात न पूछो साध की पूछ लीजिये ज्ञान।
मोल करो तलवार का पड़ा रहन दो म्यान ॥

बुरा न लगे तो कहना चाहता हूँ कि जात-पाँत और डिग्रियों के बल पर समाज में आदर का स्थान पाने के प्रयत्न और मिलने के अवसर दोनों ही व्यक्ति और समाज की संस्कारहीनता के चिह्न मालूम देते हैं। यदि कुछ पत्र-पत्रिकायें अपनी यह मर्य्यादा बना लें कि वे न तो किसी के भी नाम के आगे-पीछे जाति-सूचक संकेत का व्यवहार करेंगी और न डिग्री-रूपी पुच्छल्ला लगायेंगी तो मैं समझता हूँ कि यह कितना ही छोटा कदम सही—प्रगतिशीलता की ओर एक कदम होगा।

क्या 'नई-धारा' से भी यह आशा की जा सकती है?

और एक अन्तिम बात। 'हमें यह कहना है' सम्पादकीय मैं प्रायः पढ़ता हूँ। जँचता भी है। नवम्बर के अंक में लिपि-सुधार की चर्चा करते हुए 'र' में परिवर्तन लाने पर जो आपत्ति की गई है और 'र' के 'राम' का अंश होने का जो तर्क दिया गया है, वह नहीं ही जँचा। राम वाले 'र' को कोई हाथ नहीं लगाने जा रहा है। चर्चा तो उस 'र' की है जो कहीं तो सिर पर चढ़ बैठता है जैसे 'चर्चा' में ही, कहीं पैरों में गिरता है जैसे 'क्रम' में और कहीं एकदम घोड़ा बन जाता है जैसे 'ऊष्ट्र' में। मैं समझता हूँ इस नट-खट 'र' का तो कुछ इलाज होना ही चाहिये। आप भी सहमत होंगे।

हाँ, आपने प्रयाग विश्वविद्यालय के डा० बाहरी का हवाला देकर 'जरूरत' का बहिष्कार कर 'आवश्यकता' का प्रयोग करने की जिस प्रवृत्ति का विरोध किया है उस विरोध की सचमुच जरूरत है।

कौन नहीं जानता कि कोई भी दो शब्द एकदम पर्य्यायवाची नहीं ही होते। समानार्थी प्रतीत होने वाले शब्दों में भी 'छाया' का अन्तर रहता ही है। इसलिये आज इस हिन्दी में प्रचलित किसी भी शब्द का बहिष्कार सचमुच एक बड़ी 'ग़लती' होगी।

कहीं मैं 'ग़लती' शब्द का प्रयोग करके ही तो ग़लती नहीं कर बैठा? क्या मुझे 'अशुद्धि' कहना चाहिये? क्या मुझे 'भूल' कहना चाहिये? और 'ग़लती' क्यों नहीं कहना चाहिये?

क्षमा चाहता हूँ। मैं इसे 'ग़लती' नहीं ही मानता।

'हिन्दी' के पास अभी शब्द ही कितने हैं कि हम 'बहिष्कार' की बातें भी सोचने लगे?

'नई-धारा' और उसके सम्पादक की मंगल-कामना। शुभेच्छुः

आनन्द कौसल्यायनः



दर्पण की आत्मकथा

मेरा जन्म कब और क्यों हुआ, यह मैं बिल्कुल नहीं जानता, और न मुझे यही मालूम है कि किन-किन तत्त्वों से मेरा निर्माण हुआ है, किन-किन अवस्थाओं से मैं गुजर चुका हूँ और किन-किन साधनों से मैं अपनी वर्तमान परिस्थिति में पहुँचा हूँ। मुझे यह सब जानने की अधिक उत्कंठा भी नहीं। ऐसा नहीं कि ये प्रश्न मेरे मन में कभी उठते ही न हों, लेकिन इनसे मेरा क्या प्रयोजन है, यही सोचकर मैं अपनी चित्तवृत्ति को शान्त कर लेता हूँ। मेरा अनुमान है कि ये विविध प्रासंगिक प्रश्न उन पण्डितों के लिए ही छोड़ देना अधिक श्रेयस्कर होगा, जिन्हें वस्तु से अधिक उसके विषय में जानने की पूरी जिज्ञासा रहती है।

ऐसा नहीं है कि मैं एक निरा जड़ पदार्थ हूँ। आप अगर ऐसा सोचें तो भी मुझे अधिक आपत्ति नहीं। क्या चैतन्य भी तार-चैतन्य-अवस्था में जड़ नहीं दिखाई पड़ता? और गति भी अति गतिशील रहने पर स्थिर? लेकिन इससे आप यह भी न समझें कि मैं अपने आप को औरों से अधिक प्रबुद्ध और भिन्न मानता हूँ। क्या स्वयं प्रबुद्धता एक जड़ता नहीं है, और जड़ता एक उच्च कोटि की बुद्धावस्था? जिन्हें हम बहुत बेसमझ समझते हैं, क्या वे ही कभी-कभी दुनिया का मार्ग-प्रदर्शन नहीं करते?

हाँ, तो अपने बारे में मैं आपको अधिक कुछ नहीं बतला सकता, और मेरा अनुरोध है कि आप भी इस विषय में अधिक छानबीन न करें। हम क्या हैं इससे अधिक महत्त्वपूर्ण है हम क्या सोचते हैं या क्या करते हैं। मेरी अनुभूति मेरा जीवन है, मेरे बीतेकाल की परिचायक और भविष्य की निर्देशक!

मुझे लोग दर्पण के नाम से पुकारते हैं। मैं अति स्वच्छ व निर्मल हूँ। जो जैसी सूरत लेकर मुझ में झाँकेगा वह वैसी ही पाएगा। स्वरूप का दर्शन कराना ही मेरा काम है। कभी-कभी लोग मेरी निर्मलता पर भी खीझ उठते हैं। मेरा अति स्वच्छ

स्वभाव भी उन्हें भाता नहीं, क्योंकि अपनी प्रतिविम्बित छवि मुझ में देखकर वे मुझ से रुष्ट हो जाते हैं और बजाय अपने आप को सुधारने के, सारा क्रोध मुझ ही पर निकाल बैठते हैं। या तो वे मुझे नीचे पटक कर चूर-चूर कर देते हैं या फिर किसी निरान्त कोने में या बहुत-सी वस्तुओं के नीचे दबाकर रख देते हैं। कई लोग ऐसे भी हैं जो मुझे अँधेरे में देखना अधिक पसंद करते हैं, क्योंकि अँधेरे में रहकर मैं उनका भौंडापन स्पष्ट रूप से नहीं दिखा सकता!

लोग चाहते हैं कि मैं उन्हें उनका असली रूप न दिखाकर ऐसा स्वरूप दिखाऊँ, जिसकी वे कल्पना करते हैं। लेकिन ऐसा कब संभव है? मेरी निर्मलता उन्हें धोखा नहीं दे सकती। शायद मैं इतना स्वच्छ न होता और उन्हें अपने रूप के बारे में भुलावा दे सकता तो वे मुझसे अधिक प्रसन्न रहते। लेकिन मैं विवश हूँ। धुँधलापन मुझ में नहीं, और अगर इसलिए लोग मुझसे नाराज रहते हैं तो मैं इच्छा रखते हुए भी उन्हें प्रसन्न नहीं कर सकता। कभी-कभी जगत के व्यवहार और मनुष्य की समझ पर मुझे आश्चर्य होता है। जिस गुण के कारण संसार के हाट में मेरी कीमत लगाई जाती है, उसी गुण के कारण मुझे संसार वालों का कोप-भाजन भी बनना पड़ता है। मैं हैरान हूँ, लेकिन लाचार भी!

फिर भी मेरी यह शिकायत नहीं। कुरूप के दर्शन मैं स्वयं नहीं करना चाहता। वह अगर मुझ से दूर रहता है, चाहे रुष्ट हो कर ही सही, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। कष्ट तो मुझे तब होता है जब कि कोई भौंडी सूरतवाला मुझ में अपना घृणित रूप देख कर भी आह्लादित होता है, और मुझे बार-बार अपनी असुन्दरता के ही नहीं, अपनी भद्दी कुरुचि के भी दर्शन कराता है। मैं इस कुत्सित प्रसन्नता को सहन नहीं कर पाता और बहुत चाहता हूँ कि चूर-चूर होकर गिर पड़ूँ या गिर कर ही चूर-चूर हो जाऊँ। लेकिन ऐसा हो नहीं पाता क्योंकि वह वीभत्स व्यक्ति बड़ी मजबूती से अपने गंदे पंजे मेरे चारों ओर फलाए रहता है!

सौन्दर्य की चाह हर एक को है। यही मेरे अस्तित्व का एकमात्र कारण और मेरे जीवन की आशा है। हर व्यक्ति, चाहे वह कितना ही घृणित क्यों न हो, अपने आप को सुन्दर देखना चाहता है। मेरा विश्वास भी है कि मुझे एक-न-एक दिन अवश्य उस सर्वाङ्ग सुन्दर के दर्शन होंगे, जिसके लिए मैं जी रहा हूँ। मैं उसी दिन की प्रतीक्षा कर रहा हूँ और दूसरों को भी उस स्वरूप के अस्तित्व का परिचय देता हूँ। लोग चाहे मुझे गलत समझें, लेकिन मैं हर एक को उसके सच्चे रूप के दर्शन करा कर उसी मंजिल पर पहुँचाना चाहता हूँ।

आप कहेंगे कि तुम तो जड़ हो, तुम्हें क्या प्रयोजन इस सुन्दर-असुन्दर की भावना से ? तुम में यह व्यक्तिगत चाह और पक्षपात क्यों ? तुम्हारा काम है जो जैसा है उसको उसके स्वरूप का दर्शन कराना। तुम इन व्यर्थ की वासनाओं में अपने आप को क्यों लपेटते हो ? आपका कहना शायद सच हो लेकिन मैं अभी अपने आप को इतना जड़ अनुभव नहीं करता। चेतन की चैतन्यता अभी मुझ में है, और अभी भी मेरा यह बोध कि मैं समझता हूँ, गया नहीं। जिस दिन प्रबोधता का यह भार भी मैं हटा सकूँगा, उस दिन शायद मेरी व्यक्तिगत इच्छाएँ, वासनाएँ न रहें, लेकिन तब तक तो मैं प्यार-घृणा के दायरे से अपने आपको ऊँचा नहीं उठा सकता। अभी तक मैं अच्छा-बुरा, सुन्दर-असुन्दर, सुख-दुख की भावनाओं से ग्रस्त त्रस्त हूँ।

मैं अभी सम्पूर्ण जड़ नहीं। फिर भी प्रभु से मैं रोज प्रार्थना करता हूँ कि प्रभु, मुझे जड़ बना! मेरी चैतन्यता नष्ट कर! प्रबोधता का यह मिथ्या अहंकार मिटा! मैं इस भार से दबा जा रहा हूँ। व्यक्तिगत भावनाएँ मुझमें उथल-पुथल मचाती हैं, मेरी शांति भंग करती हैं, मुझे सताती हैं। तू सँभाल अपना भला बुरा, सुन्दर-असुन्दर, प्यार-घृणा! मैं यह सब नहीं चाहता। मुझे तो केवल जड़ बना, विशुद्ध जड़, सम्पूर्ण जड़!

—ओंकारनाथ शर्मा

गीत

शाप में तेरे छुपे वरदान मेरे
चल रहा हूँ पर
न मंजिल का पता है
प्यार का कंटक—
भरा यह रास्ता है
बढ़ रहे फिर भी
चरण अनजान मेरे
शाप में तेरे छुपे वरदान मेरे
घिर रहीं काली घटायें
फिर गगन में
दर्द मीठा हो रहा
क्यों इस जलन में
पूर्ण होंगे क्या
कभी अरमान मेरे
शाप में तेरे छुपे वरदान मेरे
खुल खिलेगा एक दिन
दिल का सुमन यह
हँस उठेगा एक दिन
उजड़ा चमन यह
पा तुम्हें लेंगे
किसी दिन प्राण मेरे
शाप में तेरे छुपे वरदान मेरे

—चन्द्रेश्वर "नीरव"



रामचरितमानस की कथा-वस्तु —लेखक—श्री ०ं जगन्नाथ राय शर्मा प्रकाशक—सद्ग्रंथ-प्रकाशन, पोस्टबॉक्स १६२० दिल्ली ; पृष्ठसंख्या ८०+५; मूल्य ३।।।≊)

'रामचरितमानस' एक विश्व-विख्यात ग्रंथ है। इसका परिचय देने को आवश्यकता नहीं। इसके प्रारम्भिक श्लोकों के अंत में इसके रचयिता महात्मा तुलसीदास ने इस ग्रन्थ के उद्‌गमस्थलों का परिचय यों दिया है :—

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि ।
स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा
भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति ॥

अर्थात् जो नाना पुराणों, वेदों और शास्त्रों से सम्मत है, जो कुछ रामायणों में तथा अन्यत्र भी कही गई है, उसी रामचन्द्र की कथा को यह तुलसीदास अपने अन्तःकरण को आनन्दित करने के लिये अति सुन्दर भाषा-निबन्ध के रूप में प्रस्तुत कर रहा है।

इसमें सन्देह नहीं कि रामचरितमानस के पाठक असंख्य हैं; उसके टीकाकारों, व्याख्याताओं और भाष्यकारों की भी कमी नहीं है। किन्तु आश्चर्य की बात है कि अबतक इस मानसोद्‌गम-मीमांसा की ओर न तो किसी का ध्यान ही गया है और न इस पर लेखनी उठाने का किसी ने साहस ही किया है। यह कार्य सरल है भी नहीं। इसके लिये समग्र भारतीय वाङ्मय का गम्भीर अनुशीलन परमावश्यक है। किन्तु हमें यह लिखते हुए गर्व होता है कि इस कठिन (पर सरस) कार्य का सम्पादन एक बिहारी अध्यापक ने प्रारम्भ किया है। यह ग्रंथ सात भागों में समाप्त होगा जिसका नाम होगा—'मानसोद्‌गम-मीमांसा'। प्रस्तुत ग्रंथ उसका प्रथमाध्याय है। यह अपने आप में पूर्ण है। इसके लेखक पं० जगन्नाथ राय शर्मा प्रकांड पाण्डित्य तथा परिमार्जित एवं परिपक्व लेखन-कला के लिये सुप्रसिद्ध हैं। इस ग्रंथ में लेखक के सोलह वर्षों का एम० ए०

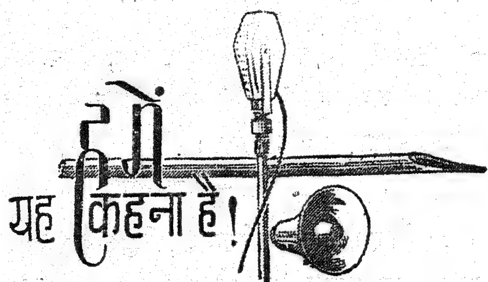
वर्गों में 'मानस' पढ़ाने का अनुभव संचित है। भाषा सरल, सरस, साधु, सौम्य एवं विषयोपयुक्त है। विषय-विवेचन सर्वथा पाण्डित्यपूर्ण एवं मनोरंजक है। निस्सन्देह यह ग्रंथ हिन्दी-साहित्य का शृङ्गार है। छपाई-सफाई सर्वांग सुन्दर।

—'विद्यार्थी'

विवर्त—*लेखक श्री जैनेन्द्र कुमार; पूर्वोदय प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली; मू० ४।)।*

सचमुच मिथ्या की सीपी में सत्य का स्वातिविन्दु सिद्ध कर विवर्त रूपी मौक्तिक का सृजन हुआ है। यह कलाकार श्री जैनेन्द्रजी के अभ्युदय, क्षेम तथा प्रौढ़ प्रकर्ष को प्राप्त उन्नत विचार का द्योतक है। नायक-प्रधान उपन्यासों में इसका विशिष्ट स्थान है। कथा कमनीय, वस्तुग्राह्य और आकर्षक है। विवर्त की रचना उस संक्रान्ति-युग में हुई है जब कि यथार्थ की ह्रासोन्मुख और विकासोन्मुख प्रवृत्तियों का द्वन्द्व अपनी चरमावस्था को प्राप्त कर चुका है। एक ओर प्राक्तन समाज (पूंजीवाद) अपनी अंतिम सांसें गिन रहा है तो दूसरी ओर वर्गविहीन समाज का उद्भव हो रहा है। इस अवस्था में आप भारतीय जनता के राग-तन्तुओं को छू सके और आपकी रचनायें प्रेषणीय बन सकीं इसका एकमात्र कारण यही है कि आप युग-समस्याओं के तटस्थ-दर्शक बने नहीं रहे वरन् आपकी सहानुभूति जनता के व्यापक संघर्ष, पीड़ा और वेदना के प्रति सजीव हो उठी और आप समाज के निर्माणार्थ निर्बान्ध प्रेरणा-प्रदायक साहित्य के सृजन में लग गए जो समाज मानव प्रेम, न्याय, समता और शान्ति पर आधारित हो। इसी की पुष्टि में विवर्त की कथावस्तु प्रतिफलित होती है।

लेखक की प्रज्ञात्मक शैली प्रसाद गुण और स्पष्टता की सिद्धि के लिए पर्याप्त है। शब्द-चयन अत्यन्त सुष्ठु, भाषा परिष्कृत एवं परिमार्जित तथा भाव सुलझे हुए हैं। मुहावरों का गुंफन भाषा को लावण्य से युक्त तथा प्रवहमान करता है। उदाहरण स्वरूप 'ये पल उठाये नहीं उठते'। ऐसे प्रयोग भाषा को एक देन हैं। इनकी शैली पर विदेशी भाषाओं का प्रभाव अवश्य है पर वह अपनी संस्कृति से अलग नहीं हो पाई है, यही उसकी विशेषता है। चरित्र-चित्रण किसी विशेष प्रकार का नहीं है, उसका साम्य सामान्य जीवन से ही अधिक है। पात्र भी किसी विशेष प्रकार के नहीं और न उनका प्रेम ही शंका का विषय है। यों कहें विवर्त में रहस्यवादिता की गहराई नहीं अपितु सम्प्रति युवकों के हृदय में ऊहापोह मचानेवाले विचारों की शृंखला का सजीव चित्रण है। छपाई-सफाई भी सुन्दर और श्लाघ्य है। —रा०



पत्रकार या मजदूर !

पत्रकारों पर मजदूरों के लिए बनाये गये कानून लागू हैं या नहीं, यह एक प्रश्न उठा है। मजदूरों के लिए जो कानून बने हैं, वे उन्हें कुछ सुरक्षायें और सुविधायें देते हैं—वे बिना कारण के हटाये नहीं जा सकते, ऐसा करने पर उनकी क्षतिपूर्ति करनी पड़ेगी, उनके वेतन और तरक्की के बारे में भी कुछ निश्चितता लानी होगी, उनके रहने-सहने के सम्बन्ध में कुछ खास व्यवस्थायें करनी होंगी, आदि आदि! आज का पत्रकार इन सुरक्षाओं और सुविधाओं से वंचित है। अतः वह चाहता है, उसे भी मजदूरों के लिए बनाये गये कानून के दायरे में ले लिया जाय। किन्तु उसके कुछ ऐसे भाईबंद भी हैं, जो अपने को मजदूर समझे जाने में अपनी तौहीनी समझते हैं। कहाँ समाज का नेता, संसार का ज्ञानदाता बनने का दावा और कहाँ अपने को मजदूर कहलवाने के लिए हो-हल्ला! अत: वे इस आन्दोलन का विरोध कर रहे हैं। सुरक्षा के लिए वे भी कानून चाहते हैं, किन्तु ज़रा अपने पद के अनुरूप। वे चाहते हैं मीठा भी हो, मुरमुर भी हो! ऐसे लोगों में विशेषतः प्रधान सम्पादकों का दल है, जिन्हें अच्छे वेतन मिलते हैं, जिनकी अखबार-मालिकों से अच्छी साँठगाँठ रहती है। इसी तरह पत्रकारों के अपने ही घर में द्वंद्व चल रहा है। जिनसे यथार्थ झगड़ा है, यानी अखबार-मालिक, वे तो अलग बैठे हैं—यहाँ 'राड़-सी मची है नटराज के तबेले में!' भांग के नसे में शंकर सोये हैं, साँप फुंकार रहे हैं, एक-दूसरे को निगलने को व्याकुल हैं! एक ऐसा मामला अभी हाईकोर्ट में आया था। एक पत्रकार को तंग किया जाने लगा, उसने मुकद्दमा दायर किया हाइकोर्ट से वह मुकद्दमा हार गया। फिर क्या था, प्रधान सम्पादक ने इसमें अपनी विजय समझी। एक पूरी पुस्तक ही निकाल दी गई! अब उस पत्रकार ने सम्पादक महोदय पर मानहानि की नालिश ठोंक दी है। इस मुकद्दमे का क्या हश्र होगा, कौन जीतता है, कौन हारता है,—सब कुछ विचाराधीन है। किन्तु जो कोई भी पत्रकारिता से सम्बन्ध रखता है, उसके लिए यह अजीब दृश्य है कि पत्रकार-पत्रकार के बीच ही कुश्ती मची हो!

पक्ष और विपक्ष में!

बहुत से देशों में पत्रकारों को मजदूर-कानून के दायरे में मान लिया गया है। मजदूर वह है जो एक निश्चित रकम के पारिश्रमिक पर, दूसरे के औजार पर दूसरे के लिए, मेहनत करता है! उसका अधिकार न तो उस औजार पर होता है और न उसके नफा-नुकसान से ही उसका कुछ लेना-पावना होता है। आज का पत्रकार भी तो ऐसा ही है। न प्रेस पर उसका अधिकार, न हानि-लाभ से उसका सरोकार। निश्चित वेतन पर वह खटता है। अतः वह मजदूर नहीं तो क्या है? रही पद-मर्यादा की बात! सो, जब पेट में भूख खाँव-खाँव कर रही हो, तो पद-मर्यादा को लेकर कोई चाटेगा? यदि आज पत्रकार अपनी पद-मर्यादा भूल कर अपने को मजदूर कहलाने के लिए आगे बढ़ता है, तो इसके दोषी वे लोग हैं, जिन्होंने उसे ऐसी स्थिति में ला दी है। किन्तु, दूसरी ओर से तर्क पेश किया जाता है, कारखाने के मैनेजरों या इंजीनियरों की शुमार तो मजदूरों में नहीं की जाती, फिर पत्रकारों को क्यों उस श्रेणी में लिया जाय? कम्पोजीटर, प्रेसमैन आदि ही उस श्रेणी में लिये जा सकते हैं! एक तीसरा दल ऐसा है, जो चाहता है, पत्रकारों के लिए एक अलग कानून ही बनाया जाय। यह दल मानता है कि पत्रकारों पर जुल्म होते हैं, उनकी रक्षा की जानी चाहिए, किन्तु उन्हें मजदूर की सतह पर नहीं उतारना चाहिए। भारत-सरकार ने जो प्रेस कमीशन बनाई है, वह इन बातों पर भी ग़ौर करेगी। देखना है, वह किस निर्णय पर पहुँचती है। निस्सन्देह यह प्रश्न इस समय एक ज्वलंत प्रश्न हो गया है और अविशीघ्र इसका समाधान खोजना ही पड़ेगा! कुछ अखबारों के मालिकों ने ऐसी स्थिति ला दी है कि इसे अब अधिक दिनों के लिए टाला नहीं जा सकता।

लेखक और आलोचक!

असफल लेखक ही आलोचक बन जाता है, जिन्होंने ऐसा कहा, उन्होंने ऐसा मान लिया कि आलोचक लेखक नहीं है। आलोचक स्वयं लेखक है और यदि लेखक से मतलब स्वतंत्र रचनाकार से है, तो यह भी दावे के साथ कहा जा सकता है कि आलोचना भी एक प्रकार की स्वतंत्र रचना है! यों ऐसा लेखक भी हो सकता है जो स्वतंत्र रचना के नाम पर साहित्यिक उठाईगिरी करता हो और ऐसे आलोचकों की भी कमी नहीं कि जिनकी आलोचना का मूलोद्देश्य झूठी प्रशंसा या द्वेषपूर्ण निन्दा है। न तो वह लेखक है और न ऐसे लोगों को आलोचक कहा जाना चाहिए। हाँ, हिन्दी के के लिए यह दुर्भाग्य की बात है कि इसमें ऐसे आलोचकों की कमी है, जो ऐसी चीजें

प्रस्तुत करते हों, जिन्हें स्वतंत्र रचना कहलाने का गौरव प्राप्त हो सके। जब से कॉलेजों में हिन्दी-साहित्य की पढ़ाई बढ़ी है, तब से आलोचकों की संख्या बहुत बढ़ गई है। प्रश्नपत्रों के उत्तर के लिए कॉलेज के विद्यार्थी सस्ती और कामचलाऊ आलोचना-पुस्तकों पर टूटते हैं। अभी उस दिन एक ऐसे सज्जन से भेंट हुई जिनकी रचना-प्रतिभा के हम सदा कायल रहे हैं। उन्होंने बताया, एक तो कॉलेज में पढ़ाने से उन्हें फ़ुर्सत नहीं मिलती; दूसरे स्वतंत्र निबंध या कहानी लिखने की अपेक्षा आलोचना लिखना आसान पड़ता है और वह तुरत पैसे भी दिलाता है! पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकों का भी अनुभव है कि धीरे-धीरे स्वतंत्र रचनाकारों की संख्या घटती जा रही है और आलोचकों की संख्या में बेहद वृद्धि हो रही है! कभी यह हिसाब लगाया जाय कि प्रसाद, प्रेमचंद या पंत, महादेवी की पुस्तकों की कितनी बिक्री हुई या हो रही है और उनकी पुस्तकों पर लिखी उलूल-जलूल आलोचना-पुस्तकों की कितनी, तो अचरज ज़रूर होगा! यह स्थिति अवश्य ही चिन्तनीय है। सबसे बुरी स्थिति आलोचना में यह आई है कि आलोचकों के अपने-अपने गुट हैं और जब कभी वे आलोचना लिखने लगते हैं, अपने उस दायरे से वे बाहर झाँकने का कष्ट नहीं उठाते। यह प्रवृत्ति बड़े-बड़े आलोचकों में भी देखी गई है। नतीजा यह है कि जो लोग उनके गुट से अलग हैं, कितनी भी अच्छी चीज क्यों न लिखें, उनका नामोल्लेख भी नहीं किया जायगा। यदि कोई ऐसा आलोचक पाठ्य-पुस्तकों का निर्णायक भी बन गया, तब तो महान अनर्थ हो जाता है! वह कितने लेखकों के भाग्य का ही वारा-न्यारा नहीं कर देता; विद्यार्थियों को साहित्य का एकांगी ज्ञान प्राप्त करने को वाध्य करके उनके साथ भी महा अन्याय करता है। हम चाहते हैं, हमारे समर्थ साहित्य-महारथियों का ध्यान इस ओर अवश्य आकृष्ट होना चाहिए।

नाटक और अभिनेता!

हिन्दी में नाटकों की कमी है या अभिनेताओं की? नाटक का अर्थ ही होता है कि उसका अभिनय हो। जो नाटक अभिनय योग्य नहीं, उसे नाटक ही क्यों कहा जाय? लेखक अपनी किसी पुस्तक पर, जिसमें उसने वार्तालाप को माध्यम अपनाया है, नाटक लिख देता है और हम भी मान लेते हैं, वह नाटक है! यह गलत बात है। तब तो सुकरात के सारे वार्तालाप नाटक बन जायँगे? नाटक के लिए यह आवश्यक शर्त है कि उसे रंगमंच पर उतारा जा सके। किन्तु, इसके लिए भी एक शर्त है कि इसके लिए योग्य अभिनेता उपलब्ध हों। नाटक ऊँचाई पर जा नहीं सकता, जब तक कि ऊँचे

दर्जे के अभिनेता नहीं मिलें। इधर देश में जो सांस्कृतिक जागरण आया है, अब नाटकों की ओर लोगों का ध्यान बढ़ता जा रहा है। इस सिनेमा के युग में भी पृथ्वीराज के नाटकों को देखने के लिए भीड़ बनी रहती है! किन्तु, क्या यह सचमुच दुर्भाग्य की बात नहीं है कि अब तक किसी साहित्यिक नाटक को पृथ्वीराज द्वारा अभिनीत होने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ? यह नहीं कि वह ऐसा नहीं चाहते हैं, किन्तु उनका क्षोभ यह है कि हिन्दी के ऐसे नाटक उन्हें मिले नहीं! अतः उन्हें स्वयं नाटक लिखवाना पड़ता है, जो अभिनय की दृष्टि से बहुत ही अच्छे होते हैं, किन्तु साहित्यिक दृष्टि से उनकी कोई क़ीमत ही नहीं है। यह तो पृथ्वीराज का जादू है जो उन नाटकों को चमका देता है! लेकिन, हमारा ध्यान सिर्फ पृथ्वीराज पर नहीं है। पृथ्वीराज तो देश में एक ही हैं। परन्तु, अब तो गाँव-गाँव में लोग नाटक खेलने का आयोजन करने लगे हैं। क्या हम उनके योग्य भी नाटक लिख पाये हैं? वे प्रायः बँगला नाटकों के अनुवाद पर टूटते हैं या पारसी-थियेटर के तर्ज पर लिखे गये बाजारू नाटकों पर! इसमें दोष सिर्फ उनका ही नहीं है, हमारा भी है। जब कभी कोई उत्साही संस्था साहित्यिक नाटकों को लेती है, कमाल कर दिखलाती है। अभी उस दिन आर्यकन्या-विद्यालय की लड़कियों ने 'अम्बपाली' का इतना सफल अभिनय किया कि श्री जगदीशचन्द्र माथुर ऐसे नाटक और अभिनय के पारखी मुग्ध हो रहे! लड़कियों के इस उत्साह को देखकर माथुर साहब ने माना कि हिन्दी रंगमंच के सुनहले दिन आ रहे हैं! वह दिन निकटतम हो सके, इसके लिए आवश्यक है कि हर नाटककार नाटक लिखते समय अभिनेता की कठिनाई पर भी ध्यान रखे! जब तक अच्छे नाटक अच्छे अभिनेता के हाथ में नहीं आवेंगे, दोनो का स्वर्ण-संयोग नहीं होगा, हिन्दी का नाटक-साहित्य पिछड़ा ही रहेगा!

कूप-जल या बहता नीर!

डाक्टर बलदेवप्रसाद मिश्र मध्यप्रदेश के एक ऐसे रत्न हैं जिनपर हिन्दी को अभिमान होना चाहिए। अभी उन्होंने एक लेख में राष्ट्रभाषा हिन्दी के रूप पर विचार प्रगट किया है। उनका कहना है, जनसाधारण जिसे चला दे, वही भाषा है, वह विशेषज्ञों की समिति में गढ़ी नहीं जा सकती, यदि गढ़ भी लीजिए, तो उसे आप चला नहीं पायँगे। भाषा 'कूप-जल' नहीं, वह तो 'बहता नीर' है। आपने बतलाया है, 'हिन्दोस्तानी' नाम से जो चीज गढ़ी गई, वह चल नहीं पाई। क्यों? राजबल ही नहीं, राष्ट्रपिता की सारी शक्ति भी उसके साथ थी। लेकिन 'हिन्दोस्तानी' तो मरी, वह एक नई प्रतिक्रिया छोड़ गई। अब लोगों ने संस्कृत पर ज्यादा जोर देना शुरू कर दिया है और उसके आधार पर नये-नये शब्द गढ़े जा रहे हैं! किन्तु, क्या ये शब्द चल पायँगे? मिश्र जी

की राय है, हिन्दी केवल संस्कृत के व्याकरण अथवा संस्कृत के कोश का आधार लेकर नहीं चली है। वह देशज एवं द्रविड़ भाषाओं से भी प्रभावित है, अतः यह वास्तविक रूप में राष्ट्रभाषा है। यों जो लोग उसे संस्कृत के कोल्हू में बाँधना चाहते हैं, वे उसके इस व्यापक रूप को नष्ट करना चाहते हैं। यह भाषा तो चलेगी नहीं ही; हिन्दी के लिए महा अनर्थ कर जायगी। इन पंक्तियों का लेखक उस दिन एक जिला-बोर्ड के दफ्तर में गया था। उसके हेड क्लर्क ने बताया, उसे रघुवीरी कोष के आधार पर ही सूचनायें निकालने को वाध्य किया जाता है, जहाँ 'नीलाम' ऐसे आम फहम शब्द के लिए ऐसा संस्कृत शब्द रख दिया गया है कि बार-बार वह याद करना चाहता है, किन्तु याद रख नहीं पाता! क्या यह हिन्दी के साथ खेलवाड़ नहीं है? मिश्र जी की यह चेतावनी हिन्दी-संसार को सदा स्मरण रखना है—"बहते नीर की धारा को एकदम उलटना असम्भव कार्य है। उसकी विशिष्ट प्रकृति उसी की होकर रहेगी। उसके बहाव की प्रवृत्ति को नहीं पहचानना उसके वास्तविक लाभ से अपने को वंचित रखना है। चतुर किसान वही है जो उसकी विशिष्ट शक्ति और उसके बहाव का विचार रखता हुआ, उसमें यत्रतत्र संशोधन करता जाता है जिससे वह विविध क्षेत्रों को अच्छी तरह हरा-भरा करती चले।"

रघुवीरी कोष को दफनाओ!

यह प्रसन्नता की बात है कि रघुवीरी कोष की निरर्थकता के विरोध में वहीं से आवाज उठ रही है, जहाँ उसका जन्म हुआ! हम स्पष्ट कहना चाहते हैं, मध्यप्रदेश की सरकार ने अपने हिन्दी-प्रेम के झोंके में एक ऐसे अनर्थ का बीज बोया है, जिसका कड़वा फल एक दिन हिन्दी को बुरी तरह भोगना पड़ेगा। चूँकि एक सरकार की मातहत वह कोष तैयार किया गया, अतः स्वभावतः ही प्रादेशिक सरकारें उसे प्रामाणिक मान कर उसी के आधार पर अपने कामकाज चलाने की कोशिश कर रही हैं। इस तरह सारे देश में एक अजीब सरकारी भाषा की सृष्टि होती जा रही है। अब समय आ गया है कि हम मध्यप्रदेश की सरकार से साग्रह निवेदन करें कि वह इस कोष को वापस कर ले, उसे रद्द किये जाने की घोषणा करे। श्री राहुल जी की देखरेख में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने एक राजनीतिक कोष तैयार कराया है, वह इस कोष से कहीं उत्तम है! जब तक कोई सर्वसम्मत कोष तैयार नहीं हो जाता, तब तक [illegible] उस कोष से ही काम चालाना चाहिए। रघुवीरी कोष जितना जल्द दफना दिया जाय, उतना ही अधिक हिन्दी का कल्याण होगा।